सीमित वितरण हेतु प्रकाशित

देखी सुनी

वर्ष 2012, अंक 23

"घर से विश्व शांति तक : आओ सैनिकीकरण को चुनौति दें और महिला हिंसा को मिटाएं–जेंडर आधारित हिंसा के विरूद्ध 16 दिवसीय अभियान 2012" अंतर्राष्ट्रिय थीम

प्रिय साथियों,

जैसा कि आप सब देखते, सुनते व पड़ते ही रहते हैं कि किस प्रकार महिला हिंसा दिन प्रतिदिन बड़ती जा रही है। तो आओ इस बार अपने–अपने कार्य और अभियानों के तहत हम एकजुट होकर ऐलान करें **बस्स! औरतों पर हिंसा अब और नहीं**। इस बार का अंक समर्पित है महिला हिंसा के अलग–अलग स्वरूपों से जूझती, उठती और बने रहने की हमारी ताकत को।

आशा है आप देखी सुनी से प्राप्त जानकारी से इस ताकत को और मजबूती देंगे और उमड़ते इस सैलाब का हिस्सा बनेंगे। अपने सुझाव और प्रतिक्रियाएं हमें अवश्य भेजें।

नीतू रौतेला
जागोरी संदर्भ समूह

उमड़ते सौ करोड़ अभियान (ONE BILLION RISING)

सयुक्त राश्ट्र संघ के अनुसार हर तीन औरतों में एक से ज़्यादा अपने जीवन में किसी न किसी प्रकार की हिंसा का सामना करती है। इसका मतलब है कि करीब सात सौ करोड़ औरतें हिंसा का शिकार हैं। औरतों के साथ होने वाली इस हिंसा को हमेशा के लिए जड़ से मिटाने के विश्व–व्यापी संघर्ष का नाम है उमड़ते सौ करोड़।

14 फरवरी 2012 को वी–डे तथा इसकी संस्थापक, ईव एन्सलर ने इस एक वर्षीय अभियान का आगाज़ किया और समस्त विश्व को इस महत्वपूर्ण पहल के साथ जुड़ने की दावत दी। 14 फ़रवरी 2013 को यह अभियान दुनिया को झकझोरने का इरादा रखता है। उस दिन पूरे विश्व के अलग–अलग शहरों, राज्यों, देशों के सौ करोड़ लोग, अपना सब काम छोड़कर घरों, स्कूलों, दफ़्तरों, कालेजों से बाहर निकलेंगे। वे एक साथ मिलकर नाचेंगे, गायेंगे और जश्न मनाएंगे। इसके साथ–साथ वे अपनी इस एकजुटता के साथ हिंसा को जड़ से मिटाने की मांग का आह्वान करेंगे। सभी के विरोध–प्रदर्शन का एक ही नारा होगा–बस, अब और नहीं! कत्तई नहीं!!!

दुनिया के **160** देश
दक्षिण एशिया के **8** देश
भारत के **17** राज्य
अब तक इस उमड़ते
सैलाब में जुड़ चुके है.....

हमारा विश्वास है कि ये अभियान एक बहुत सशक्त भूमंडलीय पहल है। हममें से हरेक नागरिक को जो समाज में व्याप्त हिंसा को जड़ से मिटाने के प्रति वचनबद्ध है, इसका हिस्सा बनना चाहिए, इसमें शिरकत करनी चाहिए।

इस अभियान से जुड़े सभी पक्षों व सहयोगियों से चर्चा के बाद दक्षिण एशिया में इस अभियान के संचालन की ज़िम्मेदारी 'संगत' ने उठाने का निश्चय किया है। दक्षिण एशिया व आस–पड़ोस के क्षेत्रों के विभिन्न देशों के सक्रिय संगठनों और कार्यकर्ताओं ने इस अगुवाई को एक सकारात्मक पहल माना है और हमारे साथ जुड़ने का इरादा किया है।

हालांकि इस अभियान की शुरूआत वी–डे द्वारा की गई है लेकिन पूरी दुनिया के लोग अपने देश, प्रदेश, शहर और इलाके में इसे अपने ढंग से चलाएंगे। इसका स्वरूप, गतिविधियां और मुद्दे स्थानीय तौर पर तय किए जाएंगे। इस लिहाज़ से 'उमड़ते सौ करोड़' अभियान लोगों का अपना आंदोलन है।

उमड़ते सौ करोड़ एक आम अभियान या आंदोलन नहीं है। यह हम सबके लिए आखिरी पड़ाव है। अब कुछ ऐसा होना ही चाहिए कि हिंसा और बलात्कार की संस्कृति जड़ से ख़त्म हो जाए और समाज,देश और दुनिया में बदलाव की लहर आए।

हिंसा का दर्द पीना हमें मंजूर नही, डर के सायों में जीना हमें मंजूर नहीं कौन कहता है कि यह एक मजबूरी है, बस! अब से सूरत–हाल हमें मंजूर नहीं!

इस अभियान के ज़रिए हमारा मक़सद है लोगों, समाज, देशों और दुनिया की सोच बदलना। हम वादा करते है। कि इस अगुवाई के चलते हम 14 फरवरी 2013 को अपने पैरों का थाप व बुल्द आवाज़ से धरती व आसमान को गुंजा देंगे। हमारे इस जश्न में हर देश, नस्ल, रंग, वर्ग, यौनिक पहचान वाले तमाम लोग शामिल होंगे जो हिंसा का नामो–निशान मिटाने के लिए प्रतिबद्ध हैं। तो आइए, हमाने साथ इस अभियान, इस

दक्षिण एशिया में औरतों और उनके हक़ों, मान–सम्मान को मानने वालों को आह्वान है, कि वे
14 फरवरी 2013 को
दोपहर 2 बजे से
शाम 6 बजे के बीच
नाचते–गाते, जश्न मनाते
आवाज़ उठाते, यह एलान करें –

बस्स! औरतों पर हिंसा अब और नहीं
हम जहाँ भी हों वहाँ उमड़ें।
कोई गाँव, शहर, बस्ती, मोहल्ला,
स्कूल, कॉलेज, बाज़ार, ऑफिस
बिना उमड़े न रहे।

उमड़ते सौ करोड़ प्रतीक हैं
हमारी विश्वव्यापी, सामूहिक ताक़त
और सद्भावना का

हम जहां भी हों, जैसे भी हों,
जो भी करें, बस एक ही हमारा प्रण हो–

औरतों और लड़कियों पर होने
वाली हिंसा को जड़ से मिटाना है।

- हम अपने घर, स्कूल, कॉलेज, काम की जगह, अड़ोस–पड़ोस या सार्वजनिक स्थलों जैसे सड़क, मेला कहीं भी औरतों पर हिंसा न सहे और न होने दें।
- अपने समुदाय की बैठकों और सभाओं में हिंसा को बढ़ावा देने वाले भेदभावों, व्यवहारों को समझें और समझाएं, जागरुकता फैलाएं, हस्ताक्षर अभियान चलाएं।
- फ़ेस–बुक पर वन बिलियन राइज़िंग कैंपेन पेज पर जुड़े और अपने विचार भेजें।
- हम लिखें, लोगों से आपस में चर्चा करें, अपने ब्लॉग, ई–मेल, ई–चैटिंग पर औरतों के ख़िलाफ़ हिंसा को खत्म करने के लिए इस अभियान का प्रचार करें।

दक्षिण एशिया में संपर्क करें– sangat@sangatsouthasia.org/ www.sangatsouthasia.org, jagori@jagori.org/ www.jagori.org, www.facebook.com/OneBillionRisingSouthAsia, www.facebook.com/OneBillionRisingDelhi
विश्व में संपर्क करें– ONEBILLIONRISING.ORG

आगे भी जारी रहेगी लड़ाई

यौन उत्पीड़न

कुमुदिनी पति

विशाखा केस में सर्वोच्च न्यायालय के 1997 के निर्देशों के मद्देनजर कई संस्थाओं में पहले ही कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न के विरुद्ध शिकायत समितियों का निर्माण हो गया था पर केंद्रीय कानून के अभाव में शिकायत समिति का निर्माण अनिवार्य नहीं था और न उत्पीड़ित महिला इस बाबत मालिकों या अधिकारियों को सजा दिलाने की मांग कर सकती थी। यदि संबंधित कानून बन जाता है तो सभी सरकारी गैर-सरकारी संस्थानों, संस्थाओं, सेवाओं व संगठित-असंगठित क्षेत्र की कर्मचारियों सहित वहां आने वाली महिलाओं के लिए भी शिकायत समितियों का निर्माण करना होगा। क्लाइंट हों या अस्पताल/नर्सिंग होम आने वाली रोगी महिला, छात्रा हो या घरेलू कामगार महिला, सब इसका प्रयोग कर सकेंगी। गौरतलब है कि घरों, ट्रस्टों व एनजीओ को भी कानून के दायरे में लाया गया है, जो बहुत जरूरी था क्योंकि घरेलू कामगारिनों पर जघन्यतम अत्याचारों के मामले सामने आए हैं। फिर अनेक विवादास्पद धर्मगुरुओं द्वारा महिलाओं के यौन शोषण के किस्से भी प्रकाश में आते रहे हैं। जहां तक एनजीओ की बात है तो आज यह खासकर महिलाओं के लिए विस्तृत रोजगार क्षेत्र है। अतः इन्हें कार्यस्थल की परिधि में लाना उचित कदम है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू है कि जहां दस से कम महिलाकर्मी हैं या मालिक पर यौन उत्पीड़न का आरोप है, वहां जिला स्तर का अधिकारी स्थानीय शिकायत समिति का निर्माण करेगा। काम के दौरान महिला जहां जाएगी, उस स्थान को कार्यस्थल माना जाएगा। जैसे, मरीज देखने या आंगनबाड़ी केंद्रों पर जाने अथवा सर्वे के लिए जाना आदि। जांच लिखित शिकायत को आधार बनाकर की जाएगी और इसे 90 दिनों के भीतर पूरा करना होगा। शिकायत समिति को निर्णय लागू करने हेतु अधिकतम 60 दिन का समय दिया जाएगा। समिति को सिविल कोर्ट का अधिकार प्राप्त होगा और फैसले से संतुष्ट न होने पर महिला आगे न्यायालय जा सकेगी।

महिला आंदोलनकारियों के दबाव के कारण घरेलू कामगार औरतों को इस कानून के दायरे में लाया गया है। पर आश्चर्य है कि कृषि क्षेत्र में जहां दस से अधिक औरतें मजदूरी कर रही हों, उन्हें इससे राहत नहीं मिलेगी। हैरानी की बात है कि असंगठित क्षेत्र का यह सबसे विस्तृत दायरा कानून से बाहर रह गया। आंकड़े बताते हैं कि 89.5 प्रतिशत महिला श्रमिक कृषि व उससे

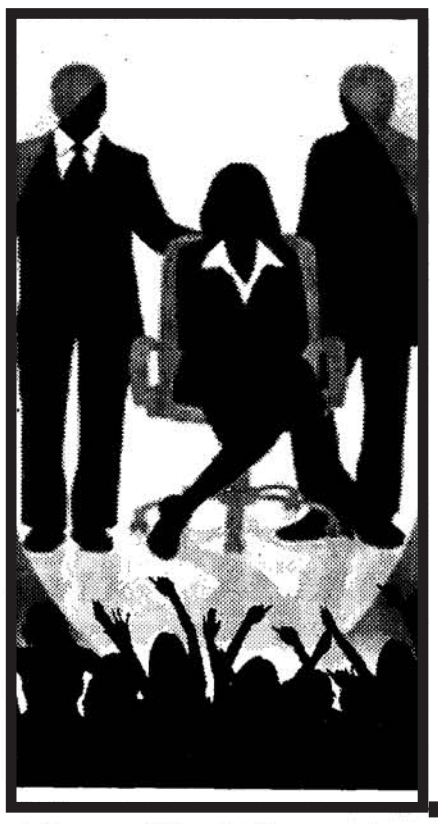

- महिलाओं के प्रति सम्मान और बराबरी का माहौल बनाने के लिए सिर्फ सरकार नहीं बल्कि समाज का सम्पूर्ण प्रगतिशील हलका-शिक्षाविद्, संस्कृतिकर्मी, मीडिया जगत के लोग व न्यायविद् काम करें। तभी यौन उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष सफल होगा। पुरुषों का एक हिस्सा जो कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न के विरुद्ध कानून की धार को कुंद करने के लिए उसे 'जेन्डर न्यूट्रल' बनाना चाहता है, दरअसल एक पुरुष सत्तात्मक प्रतिक्रिया के अलावा कुछ नहीं है
- महिलाओं को जब संविधान के तहत बराबरी का हक मिला है तो कार्यस्थल पर उनके साथ भेदभाव पूर्ण व्यवहार क्यों हो

संबंधित व्यवसायों में कार्यरत हैं। इस पर विशेष धारा जोड़ने के लिए सीपीएम सांसद सुष्मिता बाउरी ने प्रयास किया भी पर कोयला आवंटन पर मचे कोहराम के बीच उनकी आवाज दब गई और विधेयक जस-का-तस पारित कर दिया गया। और भी कुछ मामले हैं, जिन पर कानून की आलोचना की जा रही है-मसलन शिकायत समिति के सदस्यों को लोकतांत्रिक प्रक्रिया के तहत चुनने की जगह मनोनीत करना। महिला संगठनों का कहना है कि जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय में चुने हुए सदस्यों को समिति में लेने की परंपरा रही है तो इस परिपाटी को सब जगह चलाने में क्या बाधा है? दिल्ली के एक एनजीओ के निदेशक ने शिकायत समिति अपनी पसंद के लोगों को मनोनीत कर बना ली जिस पर प्रतिक्रिया थी कि शिकायत समिति के प्रश्नों से जाहिर हो जाता था कि वे उत्पीड़क के पक्ष में थे। जिला शिकायत अधिकारी व एनजीओ निदेशक खास अभिजात्य तबके से आते हों तो क्या उनके बीच खास तरह का एका बन जाने की संभावना से इनकार किया जा सकता है? यह अवश्य अच्छा कदम है कि कानून सही तरीके से लागू न करने पर संस्था या संगठन के मुखिया को जुर्माना भरना होगा, जो 50,000 रुपये तक हो सकता है और उत्पीड़ित महिला को शिकायत के बदले किसी प्रकार की असुविधा, बदनामी, काम के स्वरूप में बदलाव या अन्य प्रताड़ना नहीं सहनी होगी। पर धारा 14.1 परेशानी पैदा कर सकती है। झूठी या बदले की भावना से प्रेरित होकर शिकायत दर्ज करने अथवा झूठे गवाह पेश करने की स्थिति में सेवा नियमों के तहत शिकायतकर्ता पर कार्रवाई हो सकती है। धारा 10.1 यह भी कहती है कि शिकायत समिति शोषित महिला और आरोपित के बीच, महिला के कहने पर समझौता करवा सकती है। ऐसे में शिकायत पर आगे की कार्रवाई खत्म हो जाएगी।

कानूनविद् कहते हैं कि यह गलत प्रक्रिया है क्योंकि उत्पीड़क की पुरुष या मालिक होने के नाते सामाजिक हैसियत उसे उच्च पायदान पर रखती है और ज्यादातर मामलों में महिला दबाव में ही समझौते के लिए राजी होती है। ऐसा दबाव बनाया जाना आसान भी होता है। धमकी, अपनी या परिवार की बदनामी के खतरे, पदोन्नति या आर्थिक लाभ का लालच आदि का इस्तेमाल कर महिला को समझौते के लिए मजबूर किया जा सकता है। इलाहाबाद में अस्सी के दशक में एनसीजेडसीसी की एक कर्मचारी को मकान और पदोन्नति का लालच देकर पुलिस केस वापस कराने की कोशिश हुई थी। कई बार उत्पीड़क बलात्कार की शिकार महिला के समक्ष विवाह का प्रस्ताव तक रख देता है। ऐसा प्रस्ताव दिल्ली के एक प्राइवेट अस्पताल के कर्मचारी ने बलात्कार की शिकार नर्स के समक्ष रखा था और न्यायालय तक ने इस पर विचार का समय दिया तो महिला आंदोलनकारियों की ओर से तीखा प्रतिरोध हुआ। यह भी सच है कि किन्हीं महिलाओं की ओर से फर्जी केस बनाया जा सकता है पर क्या यह साबित होने की स्थिति में सजा की जगह शिकायत को रद्द कर देना ही काफी नहीं? एक प्रावधान यह भी है कि यौन उत्पीड़न की शिकार महिला की शिकायत संबंधी किसी बात का खुलासा नहीं किया जाएगा, न मीडिया के समक्ष लाया जाएगा। पर सीजीएचएस के एक केस में आरोपी डॉक्टर ने अपनी यूनियन में मामला उठा दिया और इस तरह केस तमाम कर्मचारियों के बीच प्रचारित ही नहीं हुआ बल्कि घटिया किस्म के चरित्र हनन तक पहुंच गया। उप निदेशक ने इस पर कोई कार्रवाई नहीं की और महिला ने भी प्रतिक्रिया में मीडिया से बात करनी शुरू की। विभाग रोकने में अक्षम हो तो कानून क्या करेगा ताकि महिला के दर्द का मखौल न बने, इस पर किसी सजा का प्रावधान नहीं है।

सबसे बड़ा मुद्दा औरतों को जागरूक करने का है कि उनके पास एक कानूनी हथियार है। इंडियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च ने पुणे में छात्राओं के बीच सर्वे किया तो पता चला कि 66.5 प्रतिशत लड़कियों को पता ही नहीं था कि यौन उत्पीड़न के अंतर्गत आता क्या है? यौन उत्पीड़न के तहत किसी महिला पर फब्तियां कसने से लेकर उसके रूप, शरीर व पोषाक संबंधी कमेंट, यौन संबंधों के लिए आमंत्रण और अश्लील चित्र दिखाना या छूना आदि शामिल है। प्रख्यात नारीवादी चिंतक नाओमी वुल्फ ने अपनी पुस्तक 'वजाइना' में लिखा है कि महिलाओं के दिमाग में यदि यौन उत्पीड़न का भय पैदा किया जाए तो उसका सीधा असर उसके यौन अंग पर पड़ता है क्योंकि शरीर में कोर्टिसोल की मात्रा बढ़ जाती है। लम्बे समय तक ऐसा होने पर महिला की सेक्सुअल ऐक्टिविटी व अन्य बातों का नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। क्या ऐसे माहौल में महिलाएं खुद को सुरक्षित महसूस कर सकती हैं; क्या उनकी कार्यक्षमता प्रभावित नहीं होगी? सोनी सोरी को कारावास में जिस तरह यौन हिंसा का शिकार बनाया जा रहा है, उसकी शिकायत कौन दर्ज करेगा? स्कूल-कॉलेज में लड़कियों को क्या सुकून से पढ़ने और अपनी कुशलता प्रदर्शित करने का मौका मिलेगा यदि वे पुरुष अध्यापकों की गलत हरकतों से डरी-सहमी व तनावग्रस्त रहेंगी? कानून इन स्थितियों से निपटने का एक तरीका है पर हमने देखा है कि दहेज व घरेलू हिंसा कानून के बनने के बाद भी उन्हें सही तरीके से लागू करना दिक्कत भरा रहा है। शायद और जद्दोजहद की जरूरत है, कानून को महिलाओं के पक्ष में इस्तेमाल के लिए।

महिलाओं के प्रति सम्मान व बराबरी का माहौल बनाने के लिए सिर्फ सरकार नहीं बल्कि समाज का प्रगतिशील हलका-शिक्षाविद्, संस्कृतिकर्मी, मीडिया जगत के लोग व न्यायविद् काम करें तभी यौन उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष सफल होगा। पुरुषों का एक हिस्सा जो कानून की धार कुंद करने के लिए उसे 'जेन्डर न्यूट्रल' बनाना चाहता है, दरअसल एक पुरुष सत्तात्मक प्रतिक्रिया के अलावा कुछ नहीं है। अतः श्रीमती कृष्णा तीरथ का कहना कि पुरुषों के साथ यौन उत्पीड़न के मामले का भी अध्ययन करना होगा, गैरजरूरी लगता है। महिलाओं को जब संविधान से बराबरी का हक मिला है तो कार्यस्थल पर उनके साथ भेदभावपर्ण व्यवहार क्यों हो?

आधी आबादी को मिले आगे बढ़ने का मौका

कार्यस्थल पर होने वाले यौन शोषण पर आने वाले बिल की चर्चा से घबराये पुरुषों ने अपना पक्ष रखने के लिए अनाप-शनाप बोलना चालू कर दिया है। इनमें से कइयों की दलील है कि कुछ सयानी टाइप की कर्मचारी अपने स्त्रीत्व का लाभ लेने को भी लालायित रहती हैं

कुछ पुरुष अधिकारी स्वयं को रसिया टाइप का बता कर शेखी बघारते हैं और इसकी आड़ में लैंगिक विभेद वाली टिप्पणियां व कटाक्ष करने को अपनी आदत बता कर बच लेते हैं। खासकर, जो बड़ी मीटिंगें करते हैं, समूह में कर्मचारियों या अधीनस्थों को संबोधित करते हैं, ऐसे सत्ताधारियों को इस तरह की छूट कतई नहीं दी जानी चाहिए

मुद्दा

अलका आर्य

'तौं कितनी आजाद हूं? कब घर लौट सकती हूं? मेरी वेश-भूषा कैसी हो? नौकरी कर सकती हूं या नहीं? पति मेरी पंसद का हो या नहीं आदि सवालों का जवाब देना इतना सरल नहीं है। हां, हमारे देश को आजाद हुए 65 साल हो गए हैं और इस बीच महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए कई कानून भी बनाए गए हैं, मगर हम पूरी तरह से खुद को आजाद महसूस नहीं करती हैं। रोजाना की जिंदगी यह तल्ख अहसास कराती रहती है।' ये विचार दिल्ली के एक कॉलेज में पढ़ने वाली कुछेक लड़कियों के हैं। कामकाजी महिलाओं से बात की तो वे बोलीं 'आजादी का मतलब है गुलामी का खत्म होना। अंग्रेजी शासन तो खत्म हो गया. सरकार हमारी है पर सरकार किसी भी पार्टी की हो, उसके एजेंडे में महिलाओं को कितनी प्राथमिकता दी जाती है, यह समझना बहुत ही महत्वपूर्ण है।'

इसी बात को आगे तक ले जाने की जरूरत है। यह तय है कि कोई भी देश महिलाओं के विकास, सशक्तिकरण को नजरअंदाज कर आगे नहीं बढ़ सकता है। ऐसा करने की कीमत उसे देर-सबेर चुकानी ही पड़ती है। अपने देश में बीते दिनों असम राज्य की राजधानी गुवाहटी में रात के 9.30 बजे चलती सड़क पर कुछ आवारा लड़कों ने एक युवती के साथ जो अश्लील व्यवहार किया, उससे सारे देश में महिलाओं की सुरक्षा के मुद्दे पर बड़ी बहस छिड़ गई।

एक युवती ने बताया कि दिल्ली में आवागमन के लिए मेट्रो रेल-सेवा शुरू होने पर उसे लगा था कि वह अब बेहिचक कहीं भी आ-जा सकेगी। घर से दफ्तर और मनपंसद थियेटर, सिनेमा या दोस्तों के साथ घूमने-फिरने के लिए आने-जाने के लिए अब उसे उन सार्वजनिक बसों से छुटकारा मिल जाएगा, जहां अक्सर सफर के दौरान मनचले बदतमीजी करते रहते हैं लेकिन कई महीनों के बाद जब मेट्रो में भी उसे ऐसी ही घटनाओं का सामना करना पड़ा तो अंततः कार खरीदना ही उसे इस समस्या का समाधान लगा।' प्रसंगवश बता दिया जाए कि उस समय मेट्रो में महिला कोच का प्रावधान नहीं किया गया था और मेट्रो में महिलाओं के साथ इस तरह की घटनाओं में वृद्धि के मद्देनजर ही महिला संगठनों ने मेट्रो में महिला कोच आरक्षित करने की मांग की थी। शुक्र है कि सगठनों की मांग पर सुनवाई हुई और अब हर मेट्रो में एक महिला कोच है।

सच यह है कि अपने यहां आजादी के बाद महिलाओं की सुरक्षा को लेकर बुनियादी ढांचे में जो बदलाव होने चाहिए थे, उन पर गौर नहीं किया गया। महिला सशक्तिकरण के नाम पर आज जो कुछ नजर आता है, उसके लिए महिला संगठनों ने काफी संघर्ष किया है। इसमें दो राय नहीं कि आजादी के साथ ही महिलाओं को वोट देने का अधिकार मिल गया और बीते एक दशक में संसदीय चुनाव व विधानसभा चुनावों में महिला मतदाताओं की संख्या का प्रतिशत बढ़ा है और यह उल्लेखनीय है। पर जहां तक लोकसभा व विधानसभा में महिलाओं को तैंतीस

फीसद आरक्षण देने का सवाल है तो वह बिल पिछले पंद्रह सालों से लटका हुआ है। उस पर आम सहमति वाले मुददे को उठाकर पीछे सरका दिया जाता है।

बहरहाल, अब वक्त आ गया है कि सरकार अपने मुल्क की आधी आबादी को यह भरोसा दिलाए कि वह उसके लिए जो योजनाएं बनाएगी, वे महज कागजों पर ही नहीं होंगी बल्कि उनके अमल पर भी पर्याप्त निगरानी रखेगी। वह महिलाओं को बराबरी का हक दिलाकर रहेगी। उनके खिलाफ अपराध करने वालों को कड़ी से कड़ी सजा मिलेगी। इंसाफ मिलने में अधिक देरी नहीं होगी और अधिक से अधिक अपराधियों को सजा मिलेगी। यह भी एक सच है कि महिलाओं के खिलाफ अपराध करने वाले अदालत में बहुत कम दोषी साबित होते हैं। इससे अपराध करने वालों को शह मिलती है। देश में उच्च शिक्षा की पढ़ाई करने वाली लड़कियों की संख्या लगातार बढ़ रही है। आईआईएम बेंगलुरु में 26 प्रतिशत लड़कियां हैं जबकि आईआईएम रांची में 39 प्रतिशत लड़कियां हैं। आईआईएम कोझिकोड में यह आंकड़ा 36 प्रतिशत का है। इंजीनियरिंग में बीते एक दशक में लड़कियों की संख्या 122 प्रतिशत तक बढ़ी है। 68 प्रतिशत संख्या कॉमर्स व मैनेजमेंट में बढ़ी है। लेकिन उच्च पदों पर बहुत ही कम महिलाएं पहुंच पाती हैं।

अपने देश भारत में शीर्ष प्रबंधन के स्तर पर महज तीन प्रतिशत महिलाएं ही पहुंच पा रही हैं। मैकेंजी एंड कंपनी की ताजा रिपोर्ट के अनुसार देश में निचले स्तर पर भी महिलाओं की मौजूदगी दुनिया में सबसे कम 35 फीसद है जबकि चीन में निचले स्तर पर 76 प्रतिशत से अधिक महिलाएं काम कर रही हैं जो दुनिया में सबसे अधिक है। ऐसे में अपनी सरकार को महिलाओं को नौकरी करने के लिए प्रोत्साहित करने वाले सकारात्मक कदम उठाने चाहिए। अपने यहां मातृत्व अवकाश का लाभ देने वाली सरकारी नीति है और इसी तरह और भी कुछ सुविधाएं हैं पर अब कामकाजी महिलाओं की संख्या बढ़ाने पर गंभीर विचार करना होगा क्योंकि वे भी देश की तरक्की और विकास में अमूल्य योगदान दे सकती हैं। शिक्षा हो या खेल का मैदान, लड़कियों ने हर जगह अपना लोहा मनवा दिया है। लंदन ओलंपिक में सायना नेहवाल ने देश के लिए महिला बेडमिंटन एकल मुकाबले में कांस्य पदक जीतकर देश का नाम रोशन किया है और वह ओलंपिक में पदक हासिल करने वाली भारत की पहली बैडमिंटन खिलाड़ी बन गई है। इसी तरह पांच बार की वर्ल्ड चैंमिपन मैरी कॉम ने लंदन ओलंपिक में देश के लिए कांस्य पदक जीता।

महिलाएं इस देश की मजबूत रीढ़ हैं और उस रीढ़ को उत्तरोत्तर मजबूत करने की जरूरत है। उन्हें बराबरी के मौके प्रदान करना और सुरक्षा का माहौल देना सरकार का दायित्व है। फिलहाल तो यही कहा जा सकता है कि आजादी के 65 सालों में महिलाओं को जितना हासिल होना चाहिए था, उतना हासिल नहीं हुआ। समाज का कट्टरपंथी वर्ग कभी उन्हें पहनावे के नाम पर धमकाता है तो कभी पुरुष मित्रों से नहीं मिलने के फरमान जारी कर देता है। हाल में झारखंड के रांची व जम्मू-कश्मीर के सोपियां में दीवारों पर पोस्टर चिपकाए गए जिनमें लड़कियों को जींस, उकसाने वाले वस्त्र आदि पहनने पर आपत्ति जताई गई और चेतावनी दी गई कि यह आदेश नहीं मानने वाली लड़कियों/महिलाओं को सबक सिखाया जाएगा। दुर्भाग्यवश ऐसी खबरें देश के हर कोने से पढ़ने-सुनने को मिलती ही रहती हैं।

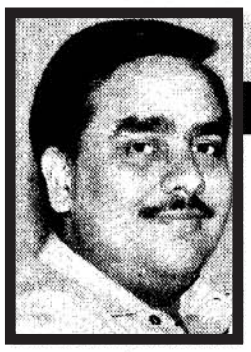

नजरिया

उपेंद्र राय

कहां हो रहा है ट्रिकल डाउन

अर्थशास्त्र की एक थ्योरी है, ट्रिकल डाउन। इस थ्योरी के मुताबिक विकास दर बढ़ने से उन तबकों का भी फायदा होता है जो विकास प्रक्रिया में सीधे तौर पर जुड़े नहीं होते हैं। मतलब यह है कि इंडस्ट्रियल प्रोडक्शन में बढ़ोतरी होती है, सर्विस सेक्टर आगे बढ़ता है, कॉरपोरेट इंडिया मुनाफे कमाता है और सरकारी कंपनियां विस्तार करती हैं तो इन सबके फायदे बूंद-बूंद नीचे गांवों और कमजोर तबके तक भी पहुंचते हैं। पिछले कुछ साल से देश में हो रही तरक्की के फायदे अब गांवों में भी दिखने लगे हैं।

लेकिन क्या ट्रिकल डाउन आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक मामलों में भी होता है! कम से कम दिल्ली के आसपास के इलाकों की कामकाजी संरचना को देखते हुए ऐसा नहीं लगता है। देश की राजधानी दिल्ली जवाहरलाल नेहरू के 1947 में दिए गए 'ट्रिस्ट विद डेस्टिनी' भाषण का गवाह है। लोकतंत्र की प्रतिमूर्ति संसद यहीं है तो दुनिया के सारे विचारों को कम से कम आवास तो यहां मिला ही हुआ है। दिल्ली को भले ही दुनिया का सबसे लिबरल शहर नहीं कहा जा सकता हो लेकिन इसे दकियानूसी शहर तो बिल्कुल नहीं कहा जा सकता है। मिर्जा गालिब इस शहर की गलियों में घूमे तो मानवता के प्रतीक महात्मा गांधी ने इसी शहर में कई सालों तक सांस ली। इस शहर के हर गली, हर मुहल्ले में विविधता बसती है। लोग इससे एडजस्ट होते भी दिख रहे हैं।

लेकिन दिल्ली के मूल्यों का ट्रिकल डाउन इफेक्ट यहां से सौ किलोमीटर दूर तक भी नहीं हो पाया है। वरना पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बागपत जिले के एक गांव में अजीबोगरीब फैसले कैसे होते। बागपत के असारा गांव में इस हफ्ते यह फैसला लिया गया कि 40 से कम उम्र की महिलाओं को बाजार जाने की इजाजत नहीं दी जा सकती है। गांव में प्रेम विवाह पर प्रतिबंध लगा दिया गया है और महिलाओं को मोबाइल फोन रखने की इजाजत नहीं है। उन्मुक्त बाजार और खुली सोच वाले समाज के केंद्र दिल्ली के बहुत पास बसे इस गांव में ऐसे फैसले चौंकाते हैं।

यहां यह बताना जरूरी है कि हरियाणा और पंजाब के साथ-साथ पश्चिमी उत्तर प्रदेश को हरित क्रांति से खूब फायदा हुआ है। इन इलाकों के गांव और शहर देश के सबसे संपन्न इलाकों में शुमार हैं। दिल्ली से सटे होने की वजह से यहां के लोगों को रोजगार के कई मौके हैं और इन इलाकों में रियल एस्टेट का बूम होने का फायदा भी यहां रहने वाले लोगों को खूब मिला है। इस तरह के फैसले न तो गरीबी के फ्रस्टेशन माने जा सकते हैं और न ही अमीरी के दंभ में जारी फरमान। यहां यह बताना जरूरी है कि इन इलाकों में सेक्स रेशियो यानी महिलाओं की संख्या पुरुषों की तुलना में देश के बाकी इलाकों से कम है। साथ ही महिलाओं की साक्षरता दर भी यहां पुरुषों के मुकाबले काफी कम है।

बागपत के असारा गांव का यह फतवा अपने आप में इस तरह का अकेला फैसला नहीं है। महिलाओं को 'कंट्रोल' करने वाले इस तरह के कई फैसले इन इलाकों की पंचायतों और गांवों में कई बार लिए गए हैं। समगोत्री विवाह को लेकर खाप पंचायतों की ओर से कई बार खूनी फरमान जारी हो चुके हैं। लड़कियों के जींस पहनने पर रोक लगाने के लिए खाप पंचायतों के कई फैसले आए हैं। इनका यह भी कहना है कि लड़कियों द्वारा मोबाइल फोन के इस्तेमाल से प्रेम विवाह नामक वाइरस का खतरा बढ़ता है। इन पंचायतों की दलील है कि जींस पहनने वाली और मोबाइल फोन इस्तेमाल करने वाली महिलाएं उन्मुक्त हो जाती हैं, जिससे सामाजिक भ्रष्टाचार बढ़ता है।

जनवरी, 2011 में मुजफ्फरनगर के एक गांव में लड़कियों के जींस पहनने पर रोक लगा दी गई। कहा गया कि लड़कियों के जींस पहनने से छेड़खानी के मामले बढ़ते हैं। 2010 में हरियाणा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश की खाप पंचायतों में यह फैसला लिया गया कि हिंदू मैरिज एक्ट में बदलाव कर अगर समगोत्री विवाह पर रोक नहीं लगाई जाती है तो पूरे देश में यह लोग इसके लिए आंदोलन करेंगे। दुख की बात है कि इस तरह के फतवे हर जाति और हर धर्म की पंचायतों की तरफ से जारी हुए हैं।

आकर्षक दिखना या फिर अपनी सुविधा और पसंद से पोशाक पहनना हर इंसान का मौलिक अधिकार है। तथाकथित रूप से भड़कीले पोशाक की वजह से किसी के मन में उत्तेजना का पैदा होना मानसिक बीमारी का संकेत है। यह विड़बना है कि छेड़खानी करने वाले या बलात्कार की कोशिश करने वाले पर अंकुश लगाने के उपाय तलाशने के बदले उन पर रोक लगाने की

> जरूरत लड़कियों को घर में बंद रखने की नहीं बल्कि उन्हें उनकी मर्जी से घूमने-पहनने की आजादी देने की है। पहनावे का इस तरह की घटनाओं में रत्ती भर भी असर नहीं होता है। लड़कों की बीमारी को लड़कियों के कपड़ों से ढंका नहीं जा सकता। मानसिक बीमारी की शिकार पंचायतों और उनके ठेकेदारों को यह कैसे समझाया जाए, यह बड़ा सवाल है

कोशिश होती है जो मानसिक रूप से स्वस्थ हैं और जिन्हें अपनी पसंद से जीवन जीना अच्छा लगता है। अंकुश लगाने की जरूरत है उन आवारा लड़कों पर जो खुद की मानसिक बीमारियों की वजह से लड़कियों को पीड़ा पहुंचाते हैं। गुवाहाटी में दो दर्जन आवारा लोगों ने एक युवती को असह्य यातना दी। इसमें मरीजों की पहचान मुश्किल नहीं है। अगर वह लड़की दो दर्जन सहेलियों के साथ होती तो क्या आवारा लोगों की इतनी हिमाकत होती?

जरूरत लड़कियों को घर में बंद रखने की नहीं बल्कि उन्हें उनकी मर्जी से घूमने-पहनने की आजादी देने की है। घरों में बंद रखने की जरूरत ऐसे आवारा लोगों को है जो यह नहीं समझ पा रहे हैं कि यह तय करना उनका काम नहीं है कि कोई कैसे चलेगा, कैसे रहेगा। पहनावे का इस तरह की घटनाओं में रत्ती भर भी असर नहीं होता है। आप इसे रोहतक के 'अपना घर' की वारदातों से भी समझ सकते हैं और हाल में सामने आई हुगली की घटना से भी। हुगली में तो मानसिक विक्षिप्त महिलाओं को दरिंदों ने हवस का शिकार बनाया। इसलिए लड़कों की बीमारी को लड़कियों के कपड़ों से ढंका नहीं जा सकता। मानसिक बीमारी की शिकार पंचायतों और उनके ठेकेदारों को यह कैसे समझाया जाए यह बड़ा सवाल है।

अब यह जानने की जरूरत है कि इन इलाकों में कंट्रोल की ऐसी घिनौनी मानसिकता है क्यों? परंपरा और रिवाज से अलग मैं इसे दूसरी तरह से देखता हूं। महंगी कार खरीदने और रहन-सहन बदलने के बावजूद इनके सोचने के तौरतरीके नहीं बदले। मोटा-मोटी आर्थिक तौर पर सहज जीवन जी रहे यह लोग कानून और सभ्य समाज के तौरतरीकों को ताक पर रखने की तमन्ना पालते हैं। इस तमन्ना को कोई प्रेमी जोड़ा या कोई लड़की चुनौती दे तो यह लोग तिलमिला उठते हैं। झूठी बादशाहत को घर में ही चुनौती मिलती है तो बौखलाहट में जारी होने लगते हैं तालिबानी फरमान। इस पूरे इलाके में हॉरर किलिंग के कई मामले सामने आए हैं और उससे भी ज्यादा सामने नहीं आ पाए।

इन इलाकों के मेहनती किसानों की वजह से देश अनाज के मामले में आत्मनिर्भर बना। कई महान नेता यहीं से निकले। लेकिन मेहनतकशों के बीच में घिनौनी मानसिकता वाले कई मुफ्तखोर भी हैं जिन्हें विरासत में दूषित परंपरा मिली है। जरूरत है कि इन इलाकों की स्वयंभू पंचायतों पर मेहनतकशों का कब्जा हो। तभी ऐसे तुगलकी फरमानों से मुक्ति मिलेगी और भ्रूण से सुरक्षित बाहर आ सकी बच्चियां खुली हवा में सांस ले सकेंगी।

(लेखक सहारा न्यूज नेटवर्क के एडिटर एवं न्यूज डायरेक्टर हैं)

मृणाल पाण्डे

लेखिका जानी-मानी साहित्यकार और वरिष्ठ पत्रकार हैं।

mrinal.pande@gmail.com

सहज सजगता पर रोक

लोकतंत्र के फैलाव के तहत युवाओं में अपने वजूद को लेकर सहज सजगता उपजी है। सजगता की इस बाढ़ पर फतवाई रोक लगाने का प्रयास अब बहुत दिन नहीं चलने वाला।

प्रतिशोध, प्रतिहिंसा व प्रतिकार

लड़कियों के दिन ढले बाहर जाने, मोबाइल प्रयोग करने तथा प्रेम विवाह के खिलाफ बागपत की खाप पंचायत के उस फतवे से (जिसे अब मात्र एक मशवरा बताया जा रहा है) दुख जरूर होता है, पर अचरज नहीं। देश के उत्तर-पश्चिमी राज्यों में औरतों के खिलाफ बढ़ती हिंसा और कन्याओं की घटती तादाद वहां काफी समय से इस तरह के फरमानों का वातावरण रच चुकी है। जब ब्याह लायक युवा लड़कों के लिए दक्षिण भारत या उत्तर-पूर्व से लड़कियों को खरीदने की नौबत आ जाए तो बची-खुची युवतियों को घरों में बंद कर देना पितृसत्ताक समाज को उचित प्रतीत होने लगता है और जातिगत वोट के भूखे इलाकाई राजनेता भी इन असंवैधानिक पंचायती फैसलों पर चुप्पी साध लेते हैं। लेकिन आगे बढ़ें। क्या हम शेष देश को महिलाओं के प्रति अपेक्षया सुरक्षित और सदय मान सकते हैं? अभी हाल में संपूर्ण साक्षरता प्राप्त केरल की एक महिला की चार साला बच्ची के साथ उसके पिता द्वारा यौन शोषण का दहलानेवाला मसला सामने आया। वारदात चूंकि कर्नाटक में घटी, उस पर जो पुलिसिया कार्रवाई वहां शुरू हुई, स्थानीय पुलिस का जो हिचकिचाहट भरा और अन्यायपरक रवैया रहा, वह दक्षिण के इस दूसरे ऊंची साक्षरता दर वाले राज्य में भी औरतों के उत्पीड़न को लेकर एक जैसी निर्ममता दिखाता है। मातृसत्ताक उत्तर-पूर्व की मिसाल देना भी अब बेकार है। सशस्त्र बलों द्वारा औरतों के यौन उत्पीड़न के खिलाफ बरसों से वहां एक युवती इरोम शर्मिला निष्फल भूख हड़ताल पर बैठी है और अब गुवाहाटी में पब के बाहर एक नाबालिग लड़की से भीड़ के सरेआम दुर्व्यवहार ने हमें स्तब्ध कर दिया। यह अगर सच है तो बहुत गंभीर है कि लड़की का उत्पीड़न फिल्माकर अपने चैनल के लिए लोकप्रियता बटोरने को एक लोकल मीडियावाले ने इतनी आसानी से ठिलठिलाते मर्दों की इतनी बड़ी भीड़ जुटा ली। शर्मनाक यह भी है कि शेष देश के मीडिया ने इस नाजुक मामले की पहले खुद अपने तईं तफ्तीश करने की जगह उधार की उसी फुटेज को बारंबार चलाया और सोशल मीडिया ने भी उसे 'यूट्यूब' पर लोड कर दिया।

> **भारत में संविधान ने हर जाति या धार्मिक समुदाय के औरत और मर्द को बराबरी का हकदार माना है और अब किसी नागरिक की अस्मिता और मानवाधिकारों का सवाल अंतरराष्ट्रीय कूटनीति या 'ब्रिक'नुमा आर्थिक गुटों तक सीमित नहीं रहा।**

भारत में संविधान ने हर जाति या धार्मिक समुदाय के औरत और मर्द को बराबरी का हकदार माना है और धीमे-धीमे ही सही, अब किसी नागरिक की अस्मिता और मानवाधिकारों का सवाल सिर्फ अंतरराष्ट्रीय कूटनीति या 'ब्रिक'नुमा आर्थिक गुटों तक सीमित नहीं रहा। वह हमारे विशाल राज-समाज के लिए भी न्याय की सही परिभाषा तय करने का बुनियादी मानक बनता गया है। लिहाजा घर की चहारदीवारी से लेकर पुलिसिया थानों तक में नागरिकों की स्वतंत्रता और उनके हकों की परिधि समझने-समझाने के लिए सामंती और लोकतांत्रिक सोच के बीच टकराव हो रहा है। इनमें से सामंतवादी मूल्यों को अक्सर पारंपरिक भारतीय और दूसरे को पश्चिमी बताया जाता है, लेकिन जिस भारत में लाखों आदिवासियों के बीच बच्चे के जन्म से बूढ़ों की मौत तक पर शराब पीने की बरसों पुरानी परंपरा हो, जहां पुराणों में मद्यपान के उल्लेख हों, वहां 2012 में भी पढ़ी-लिखी, कमाने-खानेवाली औरतों का पब में जाना इतना बड़ा विद्रोह कैसे माना जा रहा है कि मुंबई के पुलिस अधिकारी हॉकी स्टिकधारी बनकर पब के भीतर बैठी हर लड़की को गिरफ्तार करने का हुक्म देने लगें? यही मानसिकता पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कम उम्र लड़कियों द्वारा मोबाइल का इस्तेमाल करने या देर सांझ सड़क पर बिना पुरुष के सहारे निकल जाना दंडनीय बनवा देती है और बेंगलुरु के थाने में भी यही प्रतिगामी सोच मासूम बच्ची के यौन उत्पीड़न की शिकायत लिखाने आई मां की रपट दर्ज कर कार्रवाई शुरू करने के बजाय उसे परिवार की इज्जत मिट्टी में मिलाने का दोषी कह उसके आगे सवालों की झड़ी लगा देती है।

वर्ष 1883

में ग्रेजुएशन करने वालीं चंद्रमुखी बसु और कादम्बिनी गांगुली भारत की पहली महिला ग्रेजुएट्स थीं।

तीन साल बाद कादम्बिनी गांगुली सहित आनंदी गोपाल जोशी पश्चिमी चिकित्सा शास्त्र में पारंगत होने वाली पहली भारतीय महिलाएं बनीं।

भारतीय पुरुष के जीवन में स्त्री की तुलना में हमेशा एक विस्तार रहा है, जो नई तकनीकी की मदद से उसे महिलाओं से बहुत पहले शेष दुनिया के ज्ञानभंडार से जुड़ने के नायाब मौके आजादख्याल सोशल मीडिया उपलब्ध करा चुका है। लोकतंत्र की मशीनरी भी पुरुषप्रधान राजनीति के चलते उसके लिए परिचित है, जिसके लीवरों को वह जब बदलाव चाहता है, मनपसंद हरकत को बाध्य कर सकता है। पर भीतरखाने राज-समाज औरत को मर्दों के स्तर की आजादी देना घर-परिवार के लिए खतरनाक मानता है। जभी लोकतांत्रिक विस्तार का छोर तक औरतों की दुनिया के बहुत नन्हे हिस्से को ही सुलभ हो पाया है। जो लड़कियां इसे जोखिम मोल लेकर अपने जीवन में लाना चाहती हैं, उनको तुरत क्रूर तरीके से कुचलकर परंपरावादी समूह शेष युवतियों को यह संदेश लगातार भेज रहे हैं कि बहुत स्वतंत्र बनने चलोगी तो जो हश्र तुम्हारी आजादख्याल साथिनों का हुआ, वही तुम्हारा भी हो सकता है।

लेकिन फिर भी क्या बात है कि निजी जीवन में इतने सारे पुरुष सड़कों, दफ्तरों और पबों में लड़कियों की बढ़ती तादाद से खुद को आजिज बताते हुए भी दोबारा-तिबारा उनकी उपस्थिति की तरफ आकृष्ट होकर प्रेमविवाह करते दिखते हैं? दरअसल प्रेम अब उस देश में, जहां तीन-चौथाई आबादी चालीस से कम की है, एक जीवित धड़कता हुआ शब्द है और हमारे यहां हर सार्थक नई सोच पुरानी सोच को बाहर फेंकने का काम हमेशा चुपचाप धीमे-धीमे करती है। क्या आपको याद है कि कब पारंपरिक चौके रसोई के दमघोंट उसूल घरों से यूं लुप्त हो गए कि नई पीढ़ी में बहुतों को कच्ची-पक्की रसोई का फर्क भी नहीं पता? कब स्कूल-कॉलेज जाने वाली लड़कियों ने साड़ी पहनना त्याग दिया, जो उनके लिए सार्वजनिक वाहन में या साइकिलों, स्कूटी से आना-जाना खतरनाक और मुश्किल बनाता है? कब नवयौवनाओं, कुलवधुओं को ब्यूटी पार्लर से लेकर सिनेमा तक जाने में भयावह खतरा महसूस होना बंद हो गया? कैसे हर शहर में सहशिक्षा वाले कॉलेजों और किराए के फ्लैटों में बिना शादी साझा तौर से रहनेवाले कामकाजी जोड़ों की तादाद बढ़ी और वैलेंटाइन डे को स्वीकृति मिल गई? गांव की लड़कियों ने कैसे भंवे शेप कराना और नाखून रंगना, दो-दो चिप वाले मोबाइलों पर हर तरह के एप्स का प्रयोग करना और पैन कार्ड धारक बनने का मतलब सीख लिया? विवाहेतर प्रेम तो महाभारत युग से ही एक अनिश्चित-सा रिश्ता था, मगर आज फर्क यह है कि विवाह से जुड़ा रिश्ता पहले जितना टिकाऊ और निश्चित था, अब नहीं रहा। यह संकट पबों ने या मोबाइलों ने या शिक्षा ने नहीं पैदा किया और इसकी परिधि में युवतियां और युवक दोनों हैं। इसे लोकतंत्र के फैलाव के तहत युवाओं में अपने वजूद को लेकर उपजी सहज सजगता का परिणाम मानना ही सही होगा। इस सजगता की उमड़ती बाढ़ पर फतवाई रोक लगाने का प्रयास अब बहुत दिन नहीं चलनेवाला। खाप पंचायतें चाहे जो कहें।

कुत्सित मानसिकता की शिकार स्त्री

मुद्दा

सीत मिश्रा

इक्कीसवीं सदी में स्त्रियों की स्थिति पहले से बेहतर कही जा सकती है। इस दौर में तमाम बाधाओं को लांघकर स्त्रियों ने खुद को पुरुषों के समकक्ष साबित किया है। हर क्षेत्र में महिलाएं पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर चल रही हैं लेकिन इसके बाद भी उनकी राह एकदम निरापद भी नहीं हुई है। हमारे समाज का एक बड़ा तबका आज भी महिलाओं का घर से बाहर निकलकर काम करना नहीं बर्दाश्त कर पा रहा है। पुरुष वर्ग में बहुतेरे ऐसे लोग भी मिल जाएंगे जो नौकरी न मिलने के लिए महिलाओं को जिम्मेदार ठहराते हैं। वे मानते हैं कि पुरुषों की नौकरियां महिलाओं के हिस्से में चली गई हैं, इसीलिए पुरुष बेरोजगार हैं। जबकि हकीकत तो यह है कि अब जाकर कुछ हद तक महिलाओं ने अपनी जिम्मेदारी संभाली है और वे हर कदम पर चुनौतियां स्वीकार कर रही हैं। नए जमाने में मजबूत इरादे और बुलंद हौसलों के साथ महिलाएं ऊंची उड़ान भरने की तैयारी है। घर से निकलते वक्त परिवार का विरोध, फिर समाज का विरोध, नौकरी के दौरान सहकर्मियों का विरोध- इन सबके बीच जूझते हुए स्त्री ने अपनी पहचान बनाई है। इन कामयाबियों के पीछे दर्द भी है और घुटन भी। महिलाओं का शोषण हर तरह से किया जाता है। बलात्कार, दहेज प्रथा, बाल विवाह, घरेलू हिंसा, मानसिक शोषण और कार्य स्थल पर यौन हिंसा आदि इसके विविध स्तर और प्रकार हैं।

समाज में व्याप्त महिलाओं के प्रति हिंसात्मक रवैया यह बताने के लिए काफी है कि सारी सफलताओं और कामयाबियों के बाद भी महिलाओं के प्रति पुरुषों की सोच में बहुत बदलाव नहीं आया है। ज्यादातर पुरुषों के लिए महिलाएं आज भी देह से बढ़कर कुछ नहीं हैं। बलात्कार के लगातार बढ़ते मामले महिलाओं के खिलाफ हिंसा का सबसे अधिक चिंताजनक पहलू हैं। आंकड़ों की मानें तो देश में हर घंटे दो महिलाओं के साथ बलात्कार किया जाता है। यदि महिलाओं के खिलाफ होने वाले तमाम जुर्म की बात की जाए, तो बलात्कार को सबसे संगीन माना जा सकता है; क्योंकि कत्ल होने वाले के घर में तो कुछ दिन तक ही मातम मनता है लेकिन बलात्कार का दर्द ताउम्र सालता है। महिलाओं की सुरक्षा के लिए कानून तो बने हैं लेकिन महज कानून बनना ही इस मर्ज का निदान नहीं है। दरअसल, असल मर्ज तो दिमाग में है, सोच में है, विचार में है; जिसे समाज ने जन्म दिया और परिवार ने पाला-पोसा है।

सामाजिक तानाबाना पुरुषों को उसके हर जायज-नाजायज काम के लिए सही ठहराता है, जबकि दूसरी ओर महिला के हर सही काम को भी गलत ठहराने की फिराक में लगा रहता है। इसके कई उदाहरण हमारे आसपास बिखरे पड़े हैं। उदाहरण, अक्सर उठने वाले कुछ सवाल हैं। मसलन- लड़कियां रात में बाहर जाती ही क्यों हैं? लड़कियां छोटे कपड़े क्यों पहनती हैं?- यह नजरिया पूरे समाज की मानसिकता को दर्शाता है। पीड़ित को दोष देने वाले हमारे-आपके बीच मौजूद हैं, परिवार के भीतर हैं, और उन संस्थानों में भी जिन पर महिलाओं की सुरक्षा की जिम्मेदारी है। आलम यह है कि एक महिला अपने समाज में, परिवार में और अपनों के बीच भी सुरक्षित नहीं है। और

यह मानसिकता हमारे घर-परिवार से ही पनपी है। महिलाओं पर, उनके वस्त्रों पर, उनके उठने-बैठने-सोने तक पर समाज खुद का नियंत्रण चाहता है। और नियंत्रित करने के लिए महिला पर लांछन भी लगाता है। महिला विरोधी सोच के निरंतर प्रसार का ही नतीजा है कि देश के हर हिस्से में दिनदहाड़े लड़कियों का अपहरण कर लिया जाता है। अपने काम से लौटती महिलाओं, स्कूलों से लौटती बच्चियों को घात लगाकर बैठे हैवान उनका बलात्कार करने, यातनायें देने और उनकी हत्या करने के मकसद से उठा लेते हैं। विडंबना है कि देश के विकास में महिला श्रम जरूरी है, लेकिन बदले में उनके घर से निकलने के बाद उनकी बुनियादी सुरक्षा सुनिश्चित नही है।

प्रश्न उठता है कि महिलाओं के खिलाफ हो रहे अपराधों के लिए कौन जिम्मेदार है? गुड़गांव के पुलिस आयुक्त ने एक बार कहा था कि इसके लिए खुद महिलाएं ही जिम्मेदार हैं। एक बयान में उन्होंने कहा कि जो महिलाएं रात आठ बजे के बाद बाहर रहती हैं, वे मुसीबत को न्यौता देती हैं। महिलाओं को सीख देने वाले ऐसे मिलते-जुलते बयान देने वालों की फेहरिस्त लंबी है। ऐसे बयान आमतौर पर छिपी मानसिकता को जाहिर करते है। इनके जरिए एक तरह से हिंसा करने वालों को शह मिलती है और पीड़ित पर ही दोष मढ़ा जाता है। ऐसी मानसिकता इस बात की समर्थक है कि महिलाओं को घर से बाहर निकलने का कोई हक नहीं है, और अगर वे बाहर निकलती हैं तो उनके साथ जो कुछ होता है उसके लिए वे स्वयं जिम्मेदार हैं। महिलाओं के खिलाफ लगातार बढ़ते अपराधों की वजह यही प्रवृत्ति है, जो अपराधी की जगह पीड़ित को कुसूरवार ठहराकर महिलाओं की सुरक्षा के प्रति जिम्मेदारों की जवाबदेही और अपराधबोध को कम करने के काम आती है। आखिर, सिस्टम में आला स्थानों पर बैठे लोगों द्वारा कानून-व्यवस्था को दुरुस्त करने की जगह महिलाओं का दायरे सीमित रखने की कोशिश करके किसका हित साधा जा रहा है। अगर यह असामाजिक तत्वों के सामने हार मानने से बचने का प्रयास है, तो यह ओट अनुचित और नाकाफी है। आखिर महिलाओं की सुरक्षा सुनिश्चित करने के बजाय उन्हें ऐसी बिन मांगी सलाह क्यों दी जाती है? लगता है कि इस तरह महिलाओं को भयभीत करने का मकसद यह है कि वे पुरुष वर्चस्व के समक्ष नतमस्तक हो जाएं।

बेहतर होगा कि महिलाओं को बेजा सलाह देने के बजाय समाज अपनी सोच में बदलाव करे। ऐसा होने पर ज्यादा बेहतर परिणाम सामने आएंगे। हर जगह पुलिस महिलाओं की सुरक्षा के लिए तैनात नहीं की जा सकती। लिहाजा जरूरत है उस माहौल को बनाने की जिसमें महिला अपनी मर्जी से सांस ले सके और बिना भय के अपना जीवननिर्वाह कर सके। यह बड़ा विराधाभास है कि आर्थिक आजादी के संदर्भ में हमारा आदर्श अमेरिका है लेकिन महिलाओं की आजादी को लेकर हम पाकिस्तान के साथ होड़ लगा रहे हैं। किसी महिला को राष्ट्रपति बनाने के विषय में भले ही अमेरिका हमसे पीछे छूट गया हो, लेकिन महिलाओं को आजादी और सुरक्षा मुहैया कराने के मोर्चे पर वह हमसे मीलों आगे है। जब कोई अमेरिकी महिला संकटग्रस्ट होती है तो उसे वहां का सिस्टम निर्णायक समर्थन देता है, हमारी तरह मनोबल तोड़ने वाली कोरी सलाहें नहीं।

यौन हिंसा का बढ़ता दायरा

मुद्दा

रंजीत वर्मा

हाल मे जारी एक रिपोर्ट से यह तथ्य सामने आया है कि बलात्कार के मामले में आरोपी को सजा सुनाये जाने का अनुपात लगातार गिर रहा है। दूसरी ओर रिपोर्ट में यह भी साफ दर्शाया गया है कि बलात्कार के मामलों में लगातार बढ़ोतरी होती जा रही है। कहीं ऐसा तो नहीं कि सजा को लेकर अदालतों के ढीले रवैये से यह बढ़ोतरी हो रही है। नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार 1973 में सजा सुनाये जाने का औसत 44.26 प्रतिशत था जो क्रमशः गिरता हुआ 1983 में 36.83, 1993 में 30.30, 2003 में 26.12 तक चला आया। 2010 में यह भले ही 2003 के मुकाबले थोड़ा ऊपर उठ कर 26.50 पर आया लेकिन इसे कहीं से भी बलात्कारियों को हतोत्साहित करने वाला नहीं कहा जा सकता। तभी तो बलात्कार की घटनाओं में कहीं कोई कमी देखने में नहीं आ रही है। ब्यूरो के अनुसार 1973 में 2919 बलात्कार की घटनाएं दर्ज हुईं जो 1983 में दोगुनी यानी 6019 पर पहुंच गईं और 1993 में फिर दोगुनी होती हुई 12218 पर आ गयी। 2003 में यह संख्या रही 15913 और 2010 में 20262।

क्या इन आंकड़ों को देखकर नहीं लगता कि कानून बलात्कार की घटना को संजीदगी से नहीं लेता। तभी तो स्थिति विस्फोटक होती हुई यहां तक पहुंच गयी है। देखा जाये तो कानून का पालन हो, इसकी पहली जिम्मेदारी पुलिस की है। अदालतें तो बाद में आती हैं। वैसे भी आपराधिक न्याय प्रणाली में साक्ष्यों और सबूतों के बिना वह कुछ नहीं कर पाती और यह सब जुटाने का काम पुलिस का है। इसलिए जब बलात्कार की संख्या में बढ़ोत्तरी और अदालतों से अभियुक्तों के छूटते चले जाने का प्रतिशत सामने आता है तो किसी को यह समझते देर नहीं लगती कि यौन अपराध के मामले में पुलिस या तो गंभीरता से काम नहीं करती या वह यौन अपराध को गंभीर अपराध नहीं मानती। लोगों का अनुभव तो यह भी है कि इस तरह के मामलों में पुलिस पीड़ित महिला के साथ इस तरह का व्यवहार करती है जैसे वही दोषी हो जबकि अदालतें कई बार कह चुकी हैं कि पीड़ित को सहअभियुक्त न माना जाए। कई बार तो पुलिस का व्यवहार पीड़ित महिला के लिए उतना ही अपमानजनक होता है जितना बलात्कार का शिकार होते वक्त। क्या यही वे कारण नहीं कि अनेक मामलों में पीड़ित या उसके परिजन थाने में रिपोर्ट तक दर्ज नहीं कराते। हालांकि मामला दर्ज न कराये जाने की एक वजह यह भी बतायी जाती है कि कई बार बलात्कारी परिचित या रिश्तेदार होता है, इसलिए लोग बात दबा जाते हैं।

देखा जाए तो यह रवैया सिर्फ भारतीय पुलिस का ही नहीं, बल्कि वैश्विक है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि इसी आधार पर भारतीय पुलिस के रवैये को

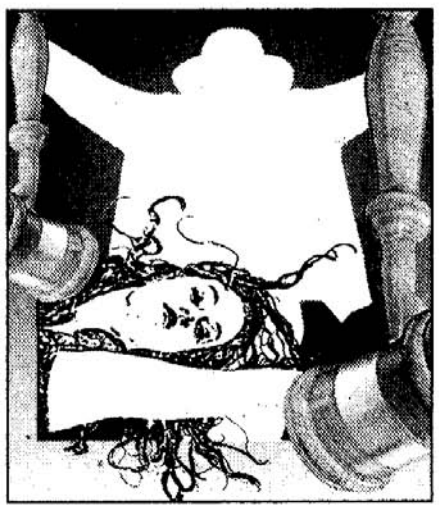

नजरअंदाज कर दिया जाए। हालांकि इस मामले में विकसित देशों के आंकड़े भी कम चौंकाने वाले नहीं हैं। 1991 में जारी एक रिपोर्ट के अनुसार अमेरिका में बलात्कार के सिर्फ 55 प्रतिशत मामले पुलिस में दर्ज हुए और कनाडा में 1985 में जारी एक रिपोर्ट के अनुसार सिर्फ 38 प्रतिशत। भारत में इस तरह का कोई उपलब्ध आंकड़ा नहीं है लेकिन लोग अच्छी तरह समझते हैं कि न दर्ज होने वाले मामले दर्ज होने वाले मामलों से ज्यादा होते हैं। कहीं यहां भी इसके पीछे पुलिस का वही नकारात्मक रवैया तो नहीं है जिसका वजह स पाड़त माहला या उसका परिवार थाने नहीं जाना चाहता।

खैर, जब इस बढ़ती घटना को लेकर अपनी पुलिस से सवाल किया जाता है तो उसका कहना होता है कि भारत में पुलिस बल की संख्या काफी कम है। 2010 में जुटाये गए आंकड़ों के अनुसार यहां प्रति एक लाख पर 133 पुलिस कर्मचारी हैं जबकि सुचारूढंग से काम करने के लिए यह संख्या 250 होनी चाहिए। शायद अपराध को नियंत्रण से बाहर होता देखकर ही हाल के महीनों में विभिन्न पदों पर पांच लाख पुलिस कर्मचारियों की भर्ती की गयी है। लेकिन सच यह भी है कि सिर्फ संख्या बल बढ़ाना समस्या का समाधान नहीं बल्कि पर्याप्त प्रशिक्षण भी उतना ही जरूरी है। अभियुक्त को अदालत से सजा दिलाने में पुलिस सफल नहीं हो पाती है तो इसकी एक वजह यह भी बतायी जाती है कि मामले की जांच वैज्ञानिक तरीके से करने का उसके पास कोई साधन नहीं होता लेकिन साधन न होना इतनी बड़ी कमी नहीं है कि इसे ही सारी गड़बड़ियों का आधार मान लिया जाये। अगर यही एकमात्र वजह होती तो इन्हीं सीमित साधनों के बलबूते आखिर कैसे मिजोरम की पुलिस इतने साक्ष्य जुटा लेती है कि वहां सजा का प्रतिशत 96.6 तक पहुंच गया है। जानकार बताते हैं कि वहां ऐसा इसलिए है क्योंकि पुलिस पर समाज का दबाव रहता है और पुलिस को न चाहते हुए भी मुस्तैदी से काम करके लोगों के सामने खुद को साबित करना होता है। देखा जाए तो कमोबेश लगभग यही स्थिति पूरे पूर्वोत्तर राज्यों की है। नगालैंड में सजा की दर 73.7 प्रतिशत है तो अरुणाचल प्रदेश और सिक्किम में 66.7 प्रतिशत और मेघालय में 44.4 प्रतिशत। इसकी एक वजह यह भी है कि वहां महिलाओं में शिक्षा दर देश के अन्य हिस्से की महिलाओं के मुकाबले ज्यादा है।

सीधी सी बात है कि यौन अपराध को लेकर सबसे पहले समाज को अपना रवैया बदलने की जरूरत है। इसे सामाजिक जागरूकता से ही खत्म किया जा सकता है। सामाजिक जागरूकता से न सिर्फ पुलिस और अदालत खुद को दबाव में महसूस करेंगे बल्कि इससे बलात्कारी पर भी एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक दबाव बनेगा और वह बलात्कार की घटना को अंजाम देने के पहले हजार बार सोचेगा।

कब तक पिछड़ती रहेगी भारतीय स्त्री!

मुद्दा

अल्का आर्य

पिछले दिनों की एक खबर के मुताबिक देश की राजधानी दिल्ली के कंझावला में एक 15 वर्षीय स्कूली छात्रा के साथ उसके पड़ोस में रहने वाला युवक उसे शादी का झूठा आश्वासन देते हुए कई दिनों तक उसका बलात्कार करता रहा। मेडिकल जांच में दुष्कर्म की पुष्टि तो हो गई पर आरोपी भाग निकला। एक दूसरी घटना में बीते पखवाड़े इसी महानगर में एक नवविवाहिता ने दहेज प्रताड़ना से तंग आकर खुदकुशी कर ली। देखा जाए तो हमारा देश जी-20 समूह के सदस्य देशों में महिला अधिकारों के मामले में काफी पिछड़ी स्थिति में है। जी-20 अर्थव्यवस्था में भारत महिलाओं के लिए जीने लायक सबसे खराब मुल्क है। यह निष्कर्ष हाल में जारी एक रिपोर्ट का है लेकिन थॉमसन रॉयटर फाउंडेशन के इस अध्ययन पर न तो महिला एवं बाल विकास मंत्रालय और ना ही राष्ट्रीय महिला आयोग की तरफ से कोई प्रतिक्रिया बाहर आई। आखिर ऐसा क्यों? जी-20 समूह अर्थव्यवस्था के आकार और आबादी के हिसाब से दुनिया का सबसे महत्वपूर्ण संगठन है।

आईएमएफ के अनुसार दुनिया की करीब 66 प्रतिशत आबादी इन देशों में रहती है और इसका वैश्विक सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 85 प्रतिशत पर कब्जा है। यह वैश्विक व्यापार के 80 प्रतिशत का हिस्सेदार है।19 देशों तथा यूरोपीय संघ के इस संयुक्त संगठन में भारत की गतिशीलता की चर्चा इन दिनों बहुत हो रही है पर हाल में जारी महिलाओं के बावत अध्ययन को इसमें खास तवज्जो नहीं दी गई। थॉमसन रॉयटर फाउंडेशन ने जी-20 समूह के सदस्य देशों की महिलाओं की स्थिति जानने के बावत इस समूह के देशों के 370 विशेषज्ञों की मदद ली।

इन विशेषज्ञों की राय में लैंगिक समानता को प्रोत्साहित करने, शोषण और हिंसा से बचाने के लिए प्रयुक्त उपायों को अपनाने और महिलाओं के स्वास्थ्य पर ध्यान दिए जाने के कारण कनाडा की महिलाएं सबसे बेहतर स्थिति में हैं। कनाडा को इस सूची में पहले स्थान पर रखा गया है। जबकि कन्या भ्रूण हत्या, कम उम्र में शादी और पराधीनता की वजह से भारत में महिलाओ की स्थिति बहुत ही दयनीय है। भारत को इस सूची में सबसे नीचे 19वें सथान पर रखा गया है। 'सेव द चिल्ड्रन यूके' संस्था के हेल्थ प्रोग्राम डेवलपमेंट एडवाइजर गुलशन रहमान की भारत की लड़कियों और महिलाओं की स्थिति के बावत टिप्पणी को नजरअंदाज करना मुश्किल दिखता है- भारत में लड़कियों और महिलाओं की वस्तु के रूप में बिक्री जारी है। यहां दस साल तक की उम्र में शादी हो जाती है, दहेज संबंधी झगड़ों के चलते उन्हें जिंदा जला दिया जाता है और युवतियों से घरेलू कामगार की आड़ में दासियों जैसा बर्ताव किया जाता है। यह हालात तब हैं जबकि यहां घरेलू हिंसा से रक्षा संबंधी महिला संरक्षण कानून 2005 लागू है।' इस सर्वे में महिलाओं की स्थिति का आकलन करने वाले चार महत्वपूर्ण बिंदुओं- स्वास्थ्य की गुणवत्ता, हिंसा से मुक्ति, संसाधनों तक पहुंच और तस्करी/दासता से मुक्ति भी शमिल किए गए। अध्ययन से पता चलता है कि भारत में महिलाओं की स्थिति इन बिंदुओं के आधार पर इस सूची में सबसे नीचे 19वें स्थान पर है। द लांसेट 2011 की रिर्पोट के अनुसार भारत में पिछले तीन दशकों में 1.2 करोड़ कन्या भ्रूण हत्याएं हुईं। यह गैर कानूनी है लेकिन कानून का डर कहीं नजर नहीं आता। राष्ट्रीय अपराध सांख्यिकी ब्यूरो 2010 के मुताबिक 01 घंटे में दहेज के कारण एक दुल्हन की मौत हो जाती है। ये सरकारी आंकड़े हैं और असली तस्वीर शायद अधिक भयावह होगी। 2009 में भारत के गृह सचिव रहे मुधकर गुप्ता का आकलन है कि करीब दस लाख लोगों की तस्करी की गई, जिनमें अधिकांश महिलाएं थीं। सीबीआई की एक रिपोर्ट कहती है कि 90 प्रतिशत तस्करी देश की सीमाओं में ही हुई। सीबीआई के मुताबिक अब भी देश में तीस लाख से ज्यादा वेश्याएं हैं। यह तस्करी यौन शोषण के मकसद के अलावा जबरन सस्ती मजदूरी कराए जाने के मकसद से भी होती है।

महिलाओं की राजनीतिक उपस्थिति के मामले में भारत 17वें नंबर पर है। वह चीन और सऊदी अरब से आगे है। बेशक 2009 के लोकसभा चुनाव में सबसे ज्यादा महिलाएं जीतकर संसद में पहुंची लेकिन यह सवाल आज भी कायम है कि अपवाद को छोड़कर राजनीति में महिलाओं की स्वतंत्र पहचान मजूबती के साथ उभर कर सामने क्यों नहीं आ पा रही है। इन दिनों देश के सबसे बड़े सूबे उत्तर प्रदेश में निकाय चुनाव हो रहे हैं। यहां सूबे की राजधानी लखनऊ का सरोजनीनगर वार्ड महिलाओं के लिए आरक्षित है। लेकिन महिला उम्मीदवारों की तस्वीरों के साथ-साथ उनके घर के पुरुषों (पति, पुत्र,ससुर आदि) की तस्वीरें भी पोस्टरों, पर्चों में छपी हैं। यानी महिला उम्मीदवारों की पहचान उनके पुरुष रिश्तेदारों के जरिए कराई गई है जबकि पुरुष उम्मीदवार ऐसा रुट अक्सर नहीं अपनाते। यह उदाहरण लखनऊ शहर का है, जो प्रदेश की राजधानी होने के कारण साक्षरता व विकास के दूसरे मापदंडों पर अन्य क्षेत्रों और गांवों से बेहतर होगा। जब यहां यह आलम है तो दूसरी जगहों की सहज कल्पना की जा सकती है।

महिलाओं को पुरुषों के संरक्षण से बाहर निकालना समाजिक व्यवस्था व सरकार दोनों के लिए बहुत बड़ी चुनौती है। अपने देश में एकल महिलाएं चाहे वह विधवा हो या कुंआरी, परित्यक्ता हो या तलाकशुदा- उनकी दुश्वारियों का कहीं अंत नजर नहीं आता। समाज उन्हें देख विचित्र तरह से रियेक्ट करता है, जिसमें रिजेक्ट की धारणा भी हावी होती है। आर्थिक सशक्तीकरण के लिए उठाए गए कई कदमों में महिलाओं को जायदाद में हक वाला कानून तो है मगर उन्हें समाज इसका इस्तेमाल करने से रोकता है। सामाजिक संरचना आड़े आती है। बहुत कम महिलाएं अपने इस हक का इस्तेमाल करने के लिए आगे आती हैं और जरूरत पड़ने पर अदालत का सहारा लेती हैं। और समाज अक्सर उनसे मुंह फेर लेता है। उनकी सामाजिक हैसियत को और कमतर आंकने लगता है। हाल ही में भारत ने मेक्सिको में आयोजित जी-20 देशों के सम्मेलन में सक्रिय भूमिका निभाई है, पर अहम सवाल यह है कि जी-20 में भारतीय महिलाओं की स्थिति सबसे ज्यादा खराब क्यों है?

स्त्री के विरुद्ध शर्मनाक हिंसा

विश्लेषण

प्रफुल्ल बिदवई

हाल में असम की राजधानी गुवाहाटी में एक युवती पर गंभीर लैंगिक हमले की घटना ने आम जन को हिला दिया। भारतीय दंड संहिता के अधीन पंजीयत अपराधों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की घटनाएं सबसे तेजी से बढ़ रही हैं। गृह मंत्रालय के राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के नवीनतम आंकडे बताते हैं कि 1953 से 2011 के बीच बलात्कार की घटनाओं में सभी अपराधों की तुलना में तीन और हत्याओं की तुलना में ढाई गुना अधिक तेजी से बढ़ोतरी हुई है। भारत में हर 22 मिनट पर एक युवती बलात्कार का शिकार होती है और हर 58 मिनट पर एक दुल्हन दहेज के लिए जला दी जाती है। पिछले साल पुलिस ने महिलाओं से छेड़छाड़ के 42,968 मामले दर्ज किए जो बलात्कार की संख्या से करीब 80 फीसद ज्यादा हैं। महिलाओं के खिलाफ अपराधों की दर्ज संख्या ढाई लाख से कुछ ऊपर (2,61,474) है, जिनमें लैंगिक उत्पीड़न, पति या संबंधियों द्वारा अत्याचार, अपहरण और वेश्यावृति में धकेलना आदि शामिल हैं। इनके अलग से कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं जिसमें आदमी के प्यार को, जो अक्सर कोरी हबस होता है, अस्वीकार करने की सजा के तौर स्त्री को तेजाबी हमले के जरिये जीवन भर के लिए बदशक्ल बना दिया जाता है। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो ने उन मामलों की भी पड़ताल नहीं की है जिनमें स्त्री को बेटा न जनने के लिए अत्याचार सहना पड़ता है।

बहरहाल, गुवाहाटी की घटना लैंगिक हिंसा का बेहद घिनौना हादसा है। आरोप है कि लड़कों को लड़की के साथ बदसलूकी के लिए मीडिया के कुछ लोगों ने उकसाया था ताकि टीवी चैनल को मसाला मिल सके। इससे मामला और भी गंभीर हो जाता है। बार मालिक द्वारा बार-बार फोन किए जाने के बावजूद पुलिस का समय रहते न पहुंचना और पूरी घटना को मामूली वाकये की तरह पेश करना तथा आरोपियों को गिरफ्तार करने में ढील हद दर्जे की शर्मनाक स्थिति है जो हादसे का अटूट हिस्सा बन चुकी है। इससे भी ज्यादा निंदनीय राष्ट्रीय महिला आयोग की एक सदस्य और मुख्यमंत्री कार्यालय द्वारा पीड़ित लड़की की पहचान उजागर करना रहा, जो नैतिकता के हर मापदंड के विरुद्ध है।

गुवाहाटी जैसे शहरों में भी, जहां लोग अपेक्षाकृत विनम्र हैं, लैंगिक हिंसा अनोखी बात

- ज्यों-ज्यों लड़कियां स्कूल-कॉलेज जाने और श्रमशक्ति में शामिल होने लगी हैं, अधिक स्वाधीन और आत्मविश्वासी बन गई हैं। इस कारण पुरुषों में नया असुरक्षा भाव पनप रहा है और वह महिलाओं को भरसक नियंत्रण में रखना और तरह-तरह से उनकी आजादी सीमित करना चाहते हैं
- स्त्री हित में प्रशासन का कर्त्तव्य है, उसके संविधान प्रदत्त समानता, स्वतंत्रता और भेदभाव से मुक्ति के अधिकार की रक्षा। उसे लैंगिक संवेदनशीलता के पाठ्यक्रम चला महिलाओं की सुरक्षा और स्वतंत्रता की मुहिम में जुट जाना चाहिए

नहीं रही है। इन शहरों की शांत सतह के नीचे भी लैंगिक कुंठा की घोर मानसिकता दबी है। इससे पहले नवंबर 2007 में एक विरोध प्रदर्शन के समय 17 वर्षीय आदिवासी लड़की को निर्वस्त्र कर दिया गया था। उपभोक्तावादी संस्कृति और शानोशौकत की संस्कृति के तेजी से फैलने के मामले में हालांकि गुवाहाटी भारत के बाकी शहरों से कुछ भिन्न है। यहां के127 बारों में ज्यादातर एक दशक के भीतर खुले हैं, लेकिन दूसरे शहरों की तरह इनमें भी कानफोड़ू संगीत और युवतियों को जिसे वे अपनी ताकत और आक्रामकता दिखा हासिल करना चाहते हैं। इसमें शारीरिक संबध तो बन जाता है लेकिन इसका भावुक प्रेम संबंध से कुछ लेना-देना नहीं होता। स्त्रियों के खिलाफ लैंगिक हिंसा के रूप में पुरुषों का व्यवहार अश्लील फब्तियां कसने या उनके नजदीक आने और छूने-टटोलने के रूप में व्यक्त होता है। इसीलिए महिलाएं खुद को दिन में भी असुरक्षित महसूस करती हैं। युवाओं की इस आक्रामकता के मूल में असुरक्षा और आत्मविश्वास का अभाव आकर्षित करने के लिए फूहड़ दिखावे के साथ शराब में डूबी मर्दाना आक्रामकता की छाप दिखती है। इस तरह का व्यवहार मंहगे रेस्तरां, होटल और बारों में नियमित मापदंड के रूप में बढ़ता जा रहा है।

अश्लील हावभाव वाले फिल्मी गीत, 'आइटम नंबर', इंटरनेट या पत्रिकाओं की कामुक सामग्री देखकर युवक अपनी पाशविक भूख मिटाने के लिए किसी शिकार की तलाश में रहते हैं जैसा भाव मुख्य कारक है। समुचित समाजीकरण न होने वाले पुरुषों को महिलाओं के साथ सहज संपर्क के अवसर नहीं मिल पाते हैं। हमारे समाज में लड़के-लड़कियों को मिलने या साथ खेलने को यदा-कदा ही बढ़ावा दिया जाता है। किशोरावस्था के कठिन दौर में प्रवेश से पहले और युवावस्था में पहुंचने तक लैंगिंग अलगाव संबंधी घिसे-पिटे नियमों को कड़ाई से लागू किया जाता है। यहां लाखों लड़कियों की शादी 18 साल से पहले हो जाती है जिस कारण उन्हें किशोरवय या खुद को समझने-जानने का अनुभव नहीं मिल पाता है।

समाज में पुरुषों की बहादुरी, शारीरिक बल, बोलचाल-व्यवहार में सख्ती की क्षमता और रोना न आने जैसे 'पुरुषोचित गुणों' की प्रशंसा होती है जबकि लड़कियों को विनम्रता, सज्जनता, धीरे बोलना और खासतौर से घरेलू दायित्व निभाना जैसी 'स्त्रियोचित गुण' ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। हालांकि पिछड़ेपन और असमानता के ये रूप आज बदल रहे हैं पर रफ्तार धीमी है। इस बीच भारत के 'तेज रफ्तार' पूंजीवाद, बाजारी शक्तियों और सेवा क्षेत्र के तेज विस्तार ने जिस नई संस्कृति को जन्म दिया है, वह इन रूपों पर चढ़ परंपरा और आधुनिकता का अजीबो गरीब मिश्रण सामने ला रही है। जैसे, कन्या भ्रूण हत्या की कुरीति समाज के अभावग्रस्त हिस्सों के बजाए संपन्न व शिक्षित लोगों में ज्यादा फैली है।

ज्यों-ज्यों लड़कियां स्कूल-कॉलेज जाने और श्रमशक्ति में शामिल होने लगी हैं, वे अधिक स्वाधीन और आत्मविश्वासी बन गई हैं। इसके चलते पुरुषों में नई असुरक्षा और भय पनप रहा है। इसी कारण वह महिलाओं को भरसक नियंत्रण में रखना और तरह-तरह से उनकी आजादी सीमित करना चाहते हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बागपत के हालिया मामले को ही लें जहां एक खाप पंचायत ने फरमान जारी किया कि युवतियां मोबाइल इस्तेमाल नहीं करेंगी। पंचायत को शायद डर होगा कि लड़कियां इसका इस्तेमाल अपने पुरुष मित्रों या प्रेमियों से बात करने के लिए कर सकती हैं।

अन्य उदाहरणों में अनेक कॉलेज प्रबंधन और धार्मिक समुदाय के मुखियाओं द्वारा महिलाओं की 'शुचिता' के निमित्त दकियानूसी ड्रेस कोड थोपा जाता रहा है। बंगलूरू के पब में श्रीराम सेना के उन्मादियों द्वारा महिलाओं पर हमले और सार्वजनिक अपमान और मुंबई जैसे कॉस्मोपॉलिटन माने जाने वाले महानगर में 'अनुपयुक्त' वस्त्र पहनने वाली महिलाओं को निवस्त्र करना तक शामिल है। यही क्यों, कुछ पुलिसकर्मियों ने भी महिलाओं को 'उत्तेजक' ढंग की पोशाक पहनने के विरुद्ध चेतावनी दे डाली। 2007 में दिल्ली पुलिस ने 'दिल्ली आने वाले पूर्वोत्तर के छात्रों/यात्रियों की सुरक्षा संबधी सलाह' के रूप में जारी एक पुस्तिका में कहा कि लड़कियों को दिखावटी और कम वस्त्रों में सुनसान सड़कों/गलियों से नहीं गुजरना चाहिए और स्थानीय लोगों की संवेदनाओं के अनुसार वस्त्र पहनने चाहिए। अब राष्ट्रीय महिला आयोग की अध्यक्ष ने भी मानो पुलिस का समर्थन करते हुए कहा है कि स्त्रियों को सावधानी से वस्त्र पहनने चाहिए और पश्चिमी लिबास से परहेज करना चाहिए। इस रूप में लैंगिक उत्पीड़न का दोष सीधे-सीधे उस लड़की के मत्थे मढ़ देना है, जो इसकी शिकार होती है। भारत जैसे पुरुष प्रधान समाज में जहां नारियों के विरुद्ध भेदभाव पालने से कब्र तक मौजूद है, पुरुषों के पूर्वाग्रहों को अनेक महिलाएं खुद भी पालती हैं। एक नेत्र विज्ञान पत्रिका को पता चला है कि कमजोर नजर वाले बच्चों में से नियमित रूप से केवल आठ प्रतिशत ही नजर का चश्मा लगाते हैं। 48 प्रतिशत जरूरतमंद लड़कियां 'खूबसूरती' की वजह से चश्मा नहीं पहनती और 83 प्रतिशत इसलिए नहीं कि उनकी 'अच्छी शादी' पर इसका प्रभाव पड़ेगा।

और तो और, इस साल यूनीसेफ की किशोरों से संबधित एक रिपोर्ट में खुलासा हुआ है कि न केवल 57 प्रतिशत भारतीय पुरुष बल्कि 15 से 19 आयु वर्ग की 53 प्रतिशत महिलाएं भी मानती हैं कि स्त्रियों की पिटाई सही है। (बांग्लादेश तक मे 41 फीसद स्त्रियां ही पत्नी की पिटाई सही मानती हैं) घरेलू हिंसा की ऐसी स्वीकार्यता और पवित्रीकरण सभ्य समाज का लक्षण नहीं। इस पुरुषवादी पूर्वाग्रह से निजात व्यापक और सघन अभियान चलाए बिना संभव नहीं और इसमें प्रगतिशील बुद्धिजीवियों, प्रबुद्ध राजनेताओं और चिंतित नागरिकों की सहभागिता जरूरी है। फिलहाल स्त्री को मिली संविधान प्रदत्त समानता, स्वतंत्रता और भेदभाव से मुक्ति के अधिकार की रक्षा प्रशासन का कर्त्तव्य है। उसे लैंगिक संवेदनशीलता के पाठ्यक्रम चला महिलाओं की सुरक्षा व स्वतंत्रता की मुहिम में जुट जाना चाहिए।

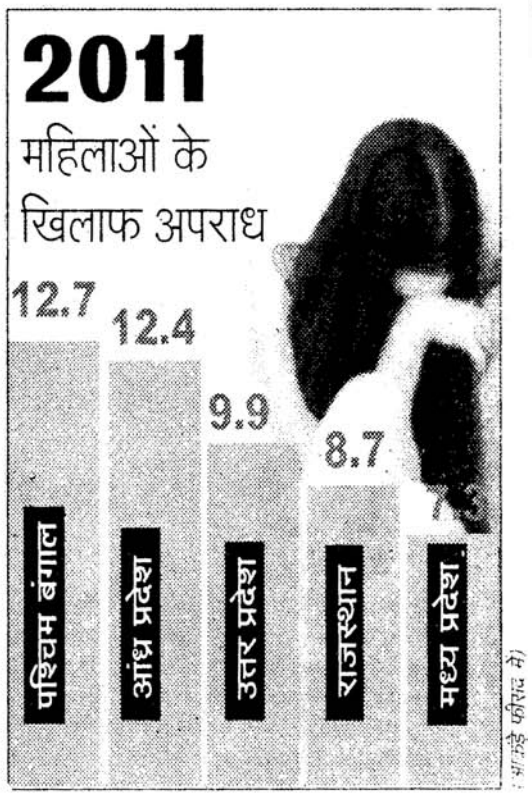

वर्ष	बलात्कार	दहेज हत्या	छेड़छाड़
1998	15031	6917	31046
1999	15468	6699	32311
2000	16496	6995	32940
2001	16075	6851	34124
2002	16373	6822	33943
2003	15847	6208	32939
2004	18233	7026	34567
2005	18359	6787	34175
2006	19348	7618	36617
2007	20737	8093	38734
2008	21467	8172	40413
2009	21397	8383	38711
2010	22172	8391	40613

गुनहगार वे भी, जो तटस्थ हैं

■ अंजलि सिन्हा
सामाजिक कार्यकर्ता

असम की राजधानी गुवाहाटी में पिछले दिनों एक तरह से 'इतिहास' दोहराया गया। आज से लगभग साढ़े चार साल पहले वहां की सड़कों पर भाग रही उस 16 वर्षीय आदिवासी किशोरी की निर्वस्त्र तस्वीर पूरे देश में सुर्खी बनी थी। वह किशोरी शहर में किसी जुलूस में भाग लेने आई थी, उसके कपड़े भीड़ ने फाड़ कर उसे निर्वस्त्र कर दिया था और उसकी फोटो भी लोगों ने अपने कैमरे एवं मोबाइल फोन मे कैद की थी। इस बार फर्क महज इतना था कि लड़की गुवहाटी की रहनेवाली थी, जो अपने मित्रों के साथ खड़ी थी और तभी भीड़ ने उस पर हमला किया। पूरी घटना का पता लोगों को टीवी चैनल की न्यूज एवं यूटयूब पर जारी किए गए वीडियो क्लिपिंग से हुआ।

इसने ऐसी ही अन्य घटनाओं की याद ताजा कर दी है :

छत्तीसगढ़ में रतनपुर के खूंटाधार में घूमने आए एक प्रेमी जोड़े को चार युवकों ने हथियार की नोक पर उनके साथ बदसलूकी की, प्रेमी की पिटाई की, फिर लड़की से छेड़छाड़ शुरू की। फिर उन्होंने दोनों को निर्वस्त्र किया और फिर उनका परेड कराया। इस पूरे दौरान लड़की गिड़गिड़ाती रही और लड़के हंसते रहे। उन्होंने इसका पांच मिनट का वीडियो तैयार किया और एमएमएस बना कर उसे सैकड़ों लोगों को पोस्ट कर दिया। रतनपुर पर्यटनस्थल में इसके पहले भी ऐसी घटनाएं घट चुकी हैं लेकिन जोड़े इज्जत बचाने के लिए शिकायत नहीं करते हैं।सभी को याद होगा कुछ साल पहले **मुंबई** में नए साल का जश्न मना कर किसी पंचतारा होटल से बाहर निकलते परिवार के साथ वाहर जमा राहगीरों ने बदसलूकी की थी। उसके भी कपड़े फाड़े गए थे और भीड़ तमाशबीन बनी हुई थी। बाद में घटना के मूकदर्शक रहे या इस घटना में खुद शामिल रहे डेढ़ दर्जन युवकों को पुलिस ने पास के एक बड़े मकान से गिरफ्तार किया था।

हालांकि दोषियों के खिलाफ सख्त कार्रवाई हो तथा हर घटना में कानून अपनी भूमिका ठीक से निभाए तो घटनाओं पर लगाम कसने में कुछ सफलता मिल सकती है। लेकिन अहम मुद्दा यह है कि आखिर लड़कियां/महिलाएं कब तक और कहां-कहां शिकारियों की शिकार बनने से बचती फिरें? उन्हें ऐसा प्रयास क्यों करना पड़े? इस तरह की घटनाएं; जैसे लड़कियों से बदतमीजी करना, यौन हिंसा करना तथा वासना पूरी न होने पर उनकी जान तक लेने की कोशिश की खबरें लगभग रोज ही अखबारों में छपती रही हैं।

लड़कों को शिकारी बनाता उनका परिवार-समाज

यह विचारणीय है कि गुवाहाटी या ऐसी अन्य घटनाओं में संलिप्त युवक ऐसे 'गुणों' से लैस कैसे हो रहे हैं? ये एक-दो नहीं हर जगह बड़ी संख्या में हैं। निश्चित रूप से पालन-पोषण और उनकी मानसिक तैयारी की प्रक्रिया में ही कहीं कोई पेच है, जो लड़कों को शिकारी बनना सिखा रहा है। शिकार अपने घर-आंगन में साथ-साथ पलनेवालियों से लेकर गांव-मुहल्ले तक या किसी ओर से आने-जाने वाली अनजान-अकेली लड़कियों का। कोई भी उनकी चपेट में आ सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि घर-परिवारों में तो इन युवकों के मानसिक विकास पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। समाज से भी उन्हें हिंसक बनने का प्रशिक्षण मिल रहा है। उर्वरक सामग्री परोसी जा रही है। ये बच्चे जिन टीवी प्रोग्रामों, प्रचारों आदि को देख कर बड़े हो रहे है, वे जो सिखाते हैं; उनके बारे में कई बार लिखा जा चुका है। ऐसा भी नहीं है कि ये सामग्री परोसनेवाले इससे अनजान हैं। समाज में मौजूद दूसरी बर्बरताएं तथा गैरबराबरियां भी इसकी जमीन तैयार करती हैं। जिस घर में बच्चे शुरू से देख रहे हैं कि औरत प्रताड़ित या गैरबराबरी की शिकार हैं, घर की लड़कियों पर तरह-तरह के प्रतिबंध हैं। उन लड़कियों के हकों या उन पर लगे प्रतिबंधों को जायज माना जाता है। उन पर नियंत्रण या बधन इसलिए है ताकि उनके साथ कोई 'अश्लीलता' न की जाए लेकिन किसी प्रकार मौका मिल गया तो वे कुछ भी कर सकते हैं; ऐसी संभावनाओं को लोग स्वीकार किए रहते हैं।

एक अन्य पहलू भी विचारणीय है। विवाद तो पुरुषों के बीच भी होते हैं लेकिन किसी झगड़े में कपड़े फाड़ने की घटना आम तौर पर सिर्फ महिलाओं के साथ ही घटती है। इसका प्रमुख कारण यही है कि पुरुष के लिए औरत का शरीर जंग का अखाड़ा है। बहाना कभी सम्पत्ति विवाद तो कभी साम्प्रदायिक दंगे तो कभी कुछ; और वह मौका तलाश ही लेता है क्योंकि स्वयं औरत को और साथ में उसके शरीर को उसने अपनी जागीर समझता आया है।

तमाशबीन समाज की जिम्मेदारी

ऐसे अपराधों में सीधे तौर पर संलिप्त लोगों की मानसिकता किस घर-परिवार और समाज की फैक्टरी में तैयार होती है, यह तो समझने का मुद्दा है ही, साथ में जो खड़े होकर तमाशा देखते हैं और मौके का 'आनंद' उठाना चाहते हैं, उनकी मानसिकता भी कम बीमार और हिंसक नहीं होती है वरना इस बार भी मामला यहां तक पहुंचता ही नहीं कि उस लड़की को सरे आम निर्वस्त्र किया जाए और जो उसे रोकने की कोशिश करे, उन्हें ही विरोध का सामना करना पड़े।

इन घटनाओं से शासन-प्रशासन पर सवाल उठता ही है मगर क्या नागरिक समाज अपनी जिम्मेदारी से बच सकता है? क्या वे घटनास्थल पर तटस्थ दिखते हैं, उन्हें भी गुनहगार नहीं समझा जाना चाहिए? कुछ समय पहले पटना में एक युवक और एक युवती के बीच हुई झड़प, युवक द्वारा लड़की के कपड़े फाड़ देना, भीड़ का एकत्रित होना और 'नज़ारे' का आनंद लेने की घटना पर बिहार विधानसभा में हंगामा हुआ था। उस वक्त प्रदेश मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने कहा था कि 'ज्यादा दुख और शर्म इस बात की है कि वहां उपस्थित लोग सिर्फ तमाशाई बने रहे। दोषी सरकार को हटाया जा सकता है लेकिन इस तरह के समाज का क्या करें?'

सभ्यता और आधुनिकता

निश्चित ही मूल समस्या हमारे समाज की सभ्यता और आधुनिकता की है कि क्या वाकई हमारा समाज आधुनिक बन पाया है? वह बर्बर समाज की अवस्था से ऐसी अवस्था तक का सफर ठीक से तय कर पाया है, जहां मानवीय गरिमा की हिफाजत हो, दूसरों के अधिकारों की सीमा के उल्लंघन से पहले व्यक्ति सोचने की आदत डाले। यदि कोई उल्लंघन कर भी दे तो पूरी कानून व्यवस्था और समाज भी अच्छी तरह सबक सीखाए ताकि वह वाकयात दूसरों के लिए नज़ीर बन जाए। आधुनिक और सभ्य समाज की पहचान तो यही हो सकती है कि उसके सदस्यगण उन्नत चेतनास्तर के हों, भले ही वह कम पढ़े-लिखे हो जो अधिक संवेदनशील और तर्कबुद्धि से लैस हों।

हमारे यहां संस्कृति के झंडाबरदार तो आत्मपरीक्षण के बजाय विदेशियों में क्या-क्या बुराइयां हैं, वह कितना पतनशील समाज है और हमारे समाज को वहां की हवा न लग जाए; इसी प्रयास में व्यस्त रहते हैं। असभ्यता और बर्बरता को सिर्फ उक्त घटनाओं में नहीं बल्कि घर से लेकर बाहर तक निजी से लेकर सार्वजनिक दायरे तक कहीं भी महसूस कर सकते हैं। बात-बात पर गाली, अपशब्द, अपमानित कर दूसरों को परेशान करने में ही आनंद उठाना, वाहन ऐसे चलाना ताकि दूसरे सहम जाए, खुशियां ऐसे मनाना कि पड़ोसी तंग हो जाएं, ये सब रोज ब रोज के छोटे-मोटे उदाहरण हैं, जो इंसान की मूल प्रवृत्तियों को दर्शाते हैं। यहां यह विश्लेषण जरूरी है कि आखिर कौन-सी प्रक्रियाएं या सामाजिक खाद-पानी ऐसी असभ्यताओं का पालन-पोषण कर रही है?

स्त्री अस्मिता
शुरुआत परिवार से करनी होगी

महिलाओ के प्रति सम्मानजनक व्यवहार को लड़के न तो घर मे देखते हैं और न बाहर। यह आम बात है कि घर मे पत्नी की मामूली सी बात पर पति उसकी पिटाई कर दे या उसके साथ गाली-गलौज या अमर्यादित व्यवहार करे। बच्चा अगर मां के साथ पिता या परिवार के दूसरे पुरुषों की दबंगई को सामान्य व्यवहार की तरह देखता है तो आगे जाकर उसका भी ऐसा ही मानसिक व्यक्तित्व बनता है। इसलिए पारिवारिक हिंसा को सबसे पहले रोकना बहुत जरूरी है। नए मूल्यो का निर्माण घर और समाज से ही होगा

■ डॉ. रंजना कुमारी
निदेशक, सामाजिक अनुसंधान केंद्र, नई दिल्ली

किराये की कोख के अकथ रहस्य

देश और समाज

मृणाल पांडे

> क्या कभी वे उस महिला की मानसिक दशा पर गौर करते हैं, जो उन दस महीनों में अपने परिवार से अलग-थलग बस एक बच्चा जनने की मशीन बन कर रह गई थी। शिशु किसका अधिक ठहरता है? पैसा देनेवालों का या उसका जिसने उसको नौ माह तक अपने रक्तमांस से सींचा और तकलीफ सह कर जना?

कुछ बरस पहले तक वंध्यापन के समाधान पर बहुत कम, परिवार नियोजन पर ही ज्यादा ध्यान दिया जाता था। पर आज यह एक दुःखद वैज्ञानिक सचाई है कि दुनिया भर में उत्कट तनावों तथा पर्यावरण प्रदूषण के बीच जीने वाले अनेकों युवा जोड़े सफल सहवास क्षमता के बावजूद संतान उत्पादन में असमर्थ होते जा रहे हैं। लिहाजा उनकी कामनापूर्ति के लिए असिस्टेड रिप्रोडक्टिव टेकनीक (एआरटी) नाम की तकनीक से लैस फर्टिलिटी क्लिनिकों का इन दिनों भारत समेत दुनिया भर में विस्तार हो चला है। '*विक्की डोनर*' साल की सफलतम फिल्मों में से है, जो रोचक तरीके से बताती है कि अब प्रयोगशाला में एक तकनीकी कौशल के सहारे किसी डोनर से निकाले गए डिंबाणु/ शुक्राणु के सीधे मानव शरीर में निषेचन से संतानोत्पत्ति संभव है। भारतीय दर्शकों को यह फिल्म सीधे उस दुनिया में ले जाती है, जहां फर्टिलिटी विशेषज्ञ डॉक्टर एक अचकचाते युवा को पैसे का ऑफर देकर अपने शुक्राणु बेचने को कहता है। उसकी राय है कि स्वस्थ युवाओं के लिए बेऔलाद लोगों को अपने भरपूर शुक्राणु या डिंबाणुओं का एक छोटा हिस्सा बेचना पुण्याई तो है ही, एक चोखा धंधा भी है।

आज पति की नाकामी का ही उपचार नहीं खरीदा जा रहा, जो पत्नियां किसी कारण नौ माह की पूरी अवधि तक गर्भाधारण करने में असमर्थ थीं, उनके लिए भी हमारे कई नगरों में डिंब और शुक्राणु बैंक से लैस फर्टिलिटी क्लिनिक लगातार खोले जा रहे हैं। इनके विज्ञापन तथा होर्डिंग्स अन्य परिवार नियोजन उपकरणों की ही तरह तमाम सार्वजनिक जगहों तथा मीडिया में देखे भी जा सकते हैं। विज्ञापित क्लिनिकों के एजेंटों के पास रजामंद महिलाओं की फेहरिस्त रहती है और डॉक्टरी जांच के बाद अपनी मनपसंद महिला को छांट कर भारत ही नहीं विदेश से आए कई दंपति भी, अपना भ्रूण किराये की कोख में प्रत्यारोपित करवा लेते हैं। डॉक्टर निषेचन के लिहाज से यदि उनके शुक्राणु या डिंबाणु कमजोर पायें, तो वे भी दाम देकर खरीदे जा सकते हैं। लक्ष्य सबका यही है कि उनकी गोद में यथासंभव पराया नहीं, उनका ही जैविक शिशु खेले। हाल में एक मशहूर फिल्मी सितारे तथा उनकी पत्नी ने भी इसी तकनीक की मदद से एक संतान पाई है।

यहां तक कहानी कतई सुखांत लगती है। अब खबरों में इसी तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी सामने आ रहा है। मुंबई की झोंपड़पट्टियों में अपने गरीब माता-पिता के साथ रहने वाली लड़की सुषमा की पिछले महीने अचानक मौत हो गई। कचड़ा बीन कर 4500 रुपये प्रतिमाह कमाने वाली सुषमा की उम्र थी सिर्फ सत्रह वर्ष। उसके माता-पिता का कहना था कि उनकी बेटी की मौत की वजह एक फर्टिलिटी क्लिनिक द्वारा उनकी बेटी का डिंबाणु निकालने में बरती गई लापरवाही थी। अभियोग की उच्च न्यायालय द्वारा करवाई पूछताछ के दौरान पता चला कि सुषमा पिछले डेढ़ साल से, यानी जब से वह कुल सोलह साल की थी, इलाके में एक फर्टिलिटी क्लिनिक के बैंक में अपने डिंबाणु बेच रही थी। 18 महीनों में जब डिंबाणु निकालने को उसका तीसरी बार आपरेशन किया गया, तो क्लिनिक से आकर उसके पेट में अचानक तेज दर्द उठा। माता-पिता उसे हस्पताल ले गए पर 'डोनेशन' के कुल दो दिन बाद रात को वह चल बसी। अदालत को क्लिनिक ने सफाई दी कि उनको सुषमा के माता-पिता ने भरपूर फीस (25 हजार रुपया फी ऑपरेशन) पाने के लालच में अपनी बेटी की उम्र का गलत सर्टिफिकेट दिखाया था। इंडियन मेडिकल काउंसिल के बनाए कानून के तहत 21 साल से कम उम्र की महिला डोनर नहीं बन सकती और कुल मिला कर वह छः बार से अधिक यह खतरा नहीं उठा सकती। सुषमा के अभिभावकों का कहना है कि उनको एजेंट ने कुछ नहीं बताया था और उनको कथित फीस का एक पैसा भी अब तक नहीं दिया गया है, जबकि क्लिनिक लाखों रुपये वसूल रहे हैं।

शोधकर्ताओं के अनुसार गरीब परिवारों की कुपोषित लड़कियों के लिए डिंबाणु बेचना काफी खतरनाक और तकलीफदेह तो होता ही है, चूंकि अधिकतर महिला डोनर तथा किराये पर कोख देने वाली महिलायें अनपढ़ तथा बेसहारा होती हैं, कई क्लिनिक भले अपने गाहकों से लाखों की फीस वसूल करें, वाजिब फीस मांगने पर पुलिस की धमकी देकर गरीब डोनरों का जमकर दोहन और आर्थिक शोषण करते हैं। आज मेडिकल टूरिज्म के तहत भारत में बाहर से कई दंपति भी अपेक्षया सस्ते भ्रूण या सस्ती कोख का लाभ लेने आने लगे हैं। उनके साक्षात्कार बताते हैं कि उन्होंने किस तरह 'अपने' होने वाले शिशु की सरोगेट माता का गर्भावस्था में खास खयाल रखने को क्लिनिक को विशेष फीस दी और उसे पूरी अवधि एक खास फ्लैट में रखा। कई दंपति तो पूरी अवधि भारत में रहते हैं, ताकि गर्भवती महिला की देखभाल में उनके शिशु की गर्भ में मौजूदगी के दौरान कोई कमी न हो। लेकिन क्या इस सब में उस महिला की शेष जिंदगी और निजी अस्मिता के प्रति एक अनैतिक निर्ममता की झलक नहीं आती, जिसे वे बच्चा जनवाने के बाद भूल जाते हैं? क्या कभी वे उस महिला की मानसिक दशा पर गौर करते हैं, जो उन दस महीनों में अपने परिवार से अलग-थलग बस एक बच्चा जनने की मशीन बन कर रह गई थी। शिशु किसका अधिक ठहरता है? पैसा देनेवालों का या उसका जिसने उस को नौ माह तक अपने रक्तमांस से सींचा और तकलीफ सह कर जना? मान लें गरीबों की दुनिया में ममत्व एक लक्जरी है, पर अपनी कोख को किराये पर देने वाली अधिकतर गरीब महिलायें खुद अपनी दो तीन या चार औलादें जन चुकी होती हैं। क्या उनका कोई हक नहीं? स्वेच्छा से ही सही (वैसे गरीब औरत के जीवन में इस शब्द का कोई मतलब नहीं बचा होता) फीस लेकर कराये गए इन गर्भाधानों

जिनका (अकसर शिशु की सुरक्षा की दृष्टि से) सिजेरियन प्रसव में समापन होना उसके शरीर पर वैसा ही अत्याचार नहीं, जैसा डिंबाणु के लिए सत्रह बरस की सुषमा की कोख की खतरनाक सर्जरी? यह भी गौरतलब है कि हर सरोगेट बेबी की गारंटी के लिए अकसर एकाधिक भ्रूणों को कोख में रोपा जाता है। इसके कारण या तो उस सरोगेट माता को जुड़वां बच्चे होते हैं या कुछ सप्ताह बाद (एक ही स्वस्थ शिशु के ऑर्डर तले) एक शिशु को कोख में ही नष्ट कर दिया जाता है। यह सब क्या उसकी प्रजनन शक्ति पर अतिरिक्त बोझ नहीं डालता?

यह सही है कि प्रयोगशाला में भ्रूण बनाना और प्रत्यारोपित करना कानूनन वैध है। पर इस इलाके में खड़े डॉक्टर दलाल तथा गाहक कुदरत की ताकत और गरीब महिलाओं की देह व मन से खिलवाड़ न करें, इसके लिए अब एक सुविचारित विशेष कानून जरूरी है, वरना इस अपरिभाषित धूसर इलाके से प्रयोगशालाई जन्म तकनीकी पर तकलीफदेह नैतिक सवाल उठते रहेंगे।

गर्भवती महिलाएं भी हो रहीं शोषण का शिकार

- गर्भावस्था के दौरान 33 फीसदी का मानसिक,13 फीसदी का यौन शोषण

प्रदीप सुरीन | नई दिल्ली

देश में महिलाओं को गर्भावस्था के दौरान भी प्रताड़ना का सामना करना पड़ रहा है। जिस समय जच्चा-बच्चा को सबसे ज्यादा ध्यान और सुरक्षा की जरूरत होती है, उसी वक्त करीब 13 फीसदी महिलाओं का यौन शोषण होता है। इंडियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च (आईसीएमआर) का नया शोध बताता है कि पूरे जीवनकाल में गर्भावस्था के दौरान देश की औसतन 33.4 प्रतिशत महिलाएं मानसिक शोषण की शिकार होती हैं। इस खास अवस्था में ही करीब नौ फीसदी महिलाओं को शारीरिक शोषण से गुजरना पड़ रहा है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) की साउथ-ईस्ट एशिया जरनल ऑफ पब्लिक हेल्थ के ताजा संस्करण में छपे इस शोध के अनुसार भारत में बड़ी तादाद में गर्भवती महिलाओं का अलग-अलग तरीके से शोषण हो रहा है। इस वजह से देश में जच्चा-बच्चा के स्वास्थ्य पर विपरीत असर पड़ रहा है। इस नाजुक अवस्था में शारीरिक, यौन और मानसिक शोषण के कारण डिलीवरी के दौरान या बाद में महिलाओं और नवजातों में स्वास्थ्य विकार का खतरा बढ़ रहा है। देश के पूर्वी राज्य झारखंड, पश्चिम बंगाल और ओडिशा से एकत्र किए गए आंकड़ों के आधार पर हुए शोध के अनुसार पूरे जीवनकाल में गर्भावस्था के दौरान लगभग 33.4 फीसदी महिलाओं का मानसिक शोषण होता है। यह अन्य शोषण की तुलना में सबसे ज्यादा है। लगभग 13 प्रतिशत महिलाओं के साथ यौन शोषण और नौ फीसदी का शारीरिक शोषण होता पाया गया है।

> शारीरिक या यौन शोषण की वजह से गर्भवती महिला की अंडेदानी में रक्त स्राव हो सकता है। इसकी वजह से भ्रूण में पल रहे बच्चे के खराब होने या मरने तक का खतरा होता है।
>
> **डॉ. दीपिका डेका, प्रसूति विभाग एम्स**
>
> गर्भवती महिलाओं की डिलीवरी के वक्त मौत के सबसे प्रमुख कारणों में शोषण ही होता है। कम खाने, सिर्फ लड़का पैदा करने का दबाव और डिप्रेशन के कारण आयरन की कमी को भी शोषण से जोड़कर देखा जाना चाहिए।
>
> **रंजना कुमारी, सेंटर फॉर सोशल रिसर्च की प्रमुख**

महिला आयोग बनाएगी स्वतंत्र कमेटी

देश में गर्भवती महिलाओं के साथ बढ़ रहे शोषण के मामलों को देखते हुए राष्ट्रीय महिला आयोग ने एक अलग कमेटी गठित करने का फैसला किया है। आयोग की अध्यक्ष ममता शर्मा ने 'भास्कर' से बातचीत में कहा कि पिछले सालों में गर्भवती महिलाओं पर अत्याचार और शोषण के मामले बढ़े हैं। शिकायतों को सुनने और त्वरित कार्रवाई के लिए बहुत जल्द आयोग एक स्वतंत्र कमेटी गठित करेगा।

रिपोर्ट के अनुसार दुनियाभर में महिलाओं के खिलाफ घरेलू हिंसा की दर 18-70 फीसदी के बीच रहती है, लेकिन गर्भावस्था के दौरान महिलाओं के शोषण को औसतन 33 फीसदी तक आंका गया है। मानसिक शोषण के सबसे ज्यादा मामले होने के पीछे देश में बढ़ते शहरीकरण, ज्यादा उम्र में गर्भवती होना और पति के शराब पीने को कारण माना गया है। इसके अलावा गर्भवती महिला को आराम नहीं करने देना, सिर्फ लड़के की चाह रखना और स्वास्थ्य जांच की अनदेखी को भी शोषण के कारणों में शामिल किया गया है।

देश में हर 10 मिनट में होती है एक गर्भवती महिला की मौत

ज्ञान प्रकाश/एसएनबी

नई दिल्ली। देश में हर 10 मिनट में कोई गर्भवती महिला शरीरिक कमजोरी के कारण गर्भ से जुड़ी विभिन्न समस्याओं के चलते अपनी जान गवां बैठती है।

सेंटर फॉर एजुकेशन, डेवलेपमेंट एंड पॉपुलेशन एक्टिविटीज एवं एम्स की परिवार नियोजन यूनिट की एक अध्ययन रिपोर्ट के अनुसार भारत मे वर्ष 2010 में बच्चे को जन्म देते समय विभिन्न समस्याओं के कारण 56 हजार औरतों की मृत्यु हुई। यानी हर घंटे छह और हर दस मिनट बाद एक मौत। महिलाओं की सुरक्षा व देखभाल को लेकर यह शर्मनाक व दुखद आंकड़े प्रस्तुत करने वाली इस रिपोर्ट को तैयार करने में अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) में स्थापित सामुदायिक एवं परिवार नियोजन यूनिट की महती भूमिका है।

रिपोर्ट का सुखद पहलू यह भी है कि दिल्ली में गर्भ संबंधी समस्याओं के दौरान होने वाली मृत्युदर में तेजी से सुधार दर्ज किया गया है। प्राप्त आंकड़ों के मुताबिक वर्ष 2001-2005 के दौरान हर सौ में से चार महिलाओं की मौत की दर में कमी आई है और अब गर्भ से जुड़ी समस्याओं के चलते महिलाओं की मौत का आंकड़ा 100 में चार से घटकर 100 में एक पर आ गया है। रिपोर्ट के मुताबिक अब महिलाएं अपने स्वास्थ्य के प्रति जागरूक हुई हैं। प्रसूति केंद्रों में गर्भवती महिलाएं न सिर्फ खुद जाने में दिलचस्पी ले रही हैं बल्कि स्वयं व गर्भस्थ शिशु को स्वस्थ रखने के लिए वहां तैनात डॉक्टरों से ली गई टिप्स को अमल में लाने में दिलचस्पी भी दिखा रही हैं। इस बाबत यूनिट की प्रभारी डा. सुनीता मित्तल ने रिपोर्ट के हवाले से कहा कि दिल्ली के सरकारी अस्पतालों में अनुमानतः हर दिन 175-250 के मध्य प्रसव कराए जाते हैं। इनमें से 60 प्रतिशत प्रसूताओं में पोषण व हीमोग्लोबिन की कमी के चलते उनका ऑप्रिशन करना पड़ता है। सुखद यह भी है कि लोगों में जागरूकता बढ़ने के कारण वर्ष 2001-2005 के दौरान गर्भ संबंधी समस्याओं से गर्भवती महिलाओं की होने वाली असमय मृत्यु दर में तीन फीसद तक सुधार हुआ है। देश की बात की जाए तो जागरूकता बढ़ने के कारण गर्भ से जुड़ी समस्याओं के चलते महिलाओं की मृत्यु दर में सुधार के मामले में दूसरे नंबर पर केरल और तीसरे स्थान पर बंगलुरू है। यहां पर क्रमशः हर 100 में से प्रसूताओं की असमय मौत की दर अनुमानतः दो व तीन है। रिपोर्ट में संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट का भी हवाला दिया गया है जिसके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस मामले में हमारा नम्बर सूडान, इथियोपिया और बांग्लादेश जैसे गरीब और पिछड़े देशों के बाद आता है। जबकि हमारे यहां मेडिकल सेवाओं के विस्तार का दावा किया जाता है और यहां कई क्षेत्रों में तरक्की भी हुई है। रिपोर्ट के मुताबिक गर्भवती महिलाओं की असमय मौत इसलिए होती है कि इन महिलाओं को गरीबी, अशिक्षा या अन्य सामाजिक व आर्थिक कारणों के चलते ठीक से चिकित्सा सुविधा नहीं मिल पाती। उन्हें पौष्टिक खाना नहीं मिलता और कई को तो यह भी नहीं पता रहता कि इस हालत में क्या किया जाए। गांवों में दूर-दूर तक नर्स की बात छोड़िए प्रशिक्षित दाई तक नहीं हैं। इसमें दिल्ली के 360 गांवों का भी अध्ययन किया गया। जहां प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र तो है लेकिन वहां पर डॉक्टर व दवाओं का अक्सर टोंटा रहता है। कई जगहों पर बुधवार व शनिवार को गर्भवती महिलाओं को जांच व परामर्श देने के लिए सलाह केंद्र स्थापित किए गए हैं, लेकिन यह भी प्रसूताओं की आकांक्षाओं पर खरे नहीं उतरते। सेंटर फॉर एजुकेशन, डेवलेपमेंट एंड पॉपुलेशन एक्टिविटीज की निदेशक डा. अपराजिता गोगोई की माने तो यह प्रसूताओं के प्रति हमारी नकारात्मक सोच को भी दर्शाता है। समाज में महिलाओं का दर्जा कम माना जाता है। लड़कियों की शादी कम उम्र में ही कर दी जाती है। परिवार को सीमित रखने में न तो उनकी कोई राय ली जाती है और न ही इस सिलसिले में उनकी किसी बात को सुना जाता है। उन्हें बचपन से कम पौष्टिक खाना तो दिया ही जाता है, कई मामलों में तो महिलाओं खाना भी कम दिए जाने की बात प्रकाश में आई है। जिसके चलते महिलाएं ताउम्र कमजोर रह जाती है और यही गर्भ के दौरान उनकी मौत का कारण बनता है। रिपोर्ट के अनुसार देश में यह दर सबसे कम केरल में प्रति हजार 81 इसलिए है कि वहां लड़कियां कहीं अधिक पढ़ती-लिखती हैं।

> ► दिल्ली में वर्ष 2001-05 की अपेक्षा वर्ष 2010 के दौरान मृत्युदर में आई कमी
>
> ► गर्भवती महिलाएं अपनी व अपने गर्भस्थ शिशु की देखभाल में ले रही हैं दिलचस्पी

यह भी : कुछ अन्य देशों में प्रति हजार यह संख्या इस प्रकार है। चीन 37, श्रीलंका 35, थाईलैंड 48 और ब्राजील 56। रिपोर्ट में इस बात की तारीफ भी की गई है कि 1999 में प्रति एक लाख में ऐसी घटनाएं 437 थीं, वह अब घट रही है। इस बात की भी सराहना की गई है कि महिलाओं की हेल्थ को दुरुस्त रखने के लिए भी काफी काम किया गया है और इसके अच्छा नतीजे भी मिल रहे हैं। लेकिन अभी भी काफी काम बाकी है।

जिद्दी बच्चियां हैं, सबक सिखा रही हैं

वडोदरा से लौटकर
देव प्रकाश चौधरी

दीवारों में खुलती खिड़कियों से ही सिर्फ रोशनी नहीं आती, घर की बेटियों की आंखों में चमक हो, तो घर क्या, गलियां भी खिली-खिली-सी रहती हैं। इस बात का एहसास आपको तब होगा, जब आप 15 हजार की आबादी वाले गुजरात के एक गांव भायली में आकर यहां की बच्चियों से मिलेंगे, बुजुर्गों से बातें करेंगे। हवाओं में कपास की गंध मिलेगी और खेतों में मेहनत की खुशबू। लेकिन मेहनत और जेब के बीच की दूरी भी कुछ कम नहीं। गांव के ठीक पीठ पीछे शहर वडोदरा है और सामने तेजी से बढ़ रहे कंकरीट के जंगल। जाहिर है, संभावनाओं की तस्करी के अनगिनत रास्ते गांव तक आते हैं। फिर भी, उम्मीद की रोशनी है, तो इसके पीछे वजह सिर्फ इतनी है कि भायली गांव की छोटी-छोटी बच्चियों में इतना आत्मविश्वास आ गया है कि वे बड़ों से सवाल पूछने लगी हैं और सही क्या है और गलत क्या, समझने लगी हैं।

'कई घर ऐसे थे, जहां बेटी का मतलब यही था कि घर का काम करो। खेतों में काम करो। बिल्डिंग में काम करो। स्कूल, किताब कलम उनके लिए नहीं थे।' भायली गांव की 10वीं में पढ़ने वाली इला जब बोलती है, तो बोलती ही चली जाती है- 'घर-घर गए। सबसे बात की। स्कूल के बदले खेतों में काम के लिए जाने वाली उन लड़कियों को समझाया। नहीं माने, तो सरपंच के पास गए। प्रिंसिपल ने मदद की। अब सब ठीक हो गया।' इला के साथ आरती, नूतन, मनीषा, गुलशन, वैशाली, गौरी, प्रगति जैसी दर्जनों लड़कियों को ऐसे कामों के लिए जब भी मनोबल और नैतिक समर्थन की जरूरत होती है, वे गांव के समर्पण माहिति केंद्र में एकजुट होती हैं। समर्पण माहिति केंद्र यानी विलेज इनफॉरमेशन सेंटर। दरअसल, विलेज इनफॉरमेशन सेंटर उस कड़ी का हिस्सा है, जिसे एडोलसेन्ट गर्ल्स के संपूर्ण विकास के लिए यूनिसेफ ने गठित किया है। यूनिसेफ की कम्यूनिकेशन ऑफिसर मौमिता दस्तीदार बताती हैं, 'इलाके में बच्चियों की शिक्षा को लेकर सबसे बड़ी समस्या उन परिवारों में देखने को मिलती है, जो परिवार रोजगार की तलाश में कई-कई महीने के लिए घर-बार छोड़कर निकल पड़ते हैं।' पेट की आग के आगे पढ़ाई की इच्छा अकसर कमजोर पड़ जाती है। भायली गांव की बेटियों ने इसका भी रास्ता निकाला है। ग्यारहवीं में पढ़ने वाली प्रगति बताती है, 'हम लोग गांव के बगल में खड़ी हो रही इमारतों के पास गए। काम करनेवाले कई-कई महीनों तक वहीं टिके रहते हैं। बड़ों से बच्चियों को स्कूल भेजने का आग्रह किया। प्रिंसिपल मैम ने उन बच्चियों के लिए अनुमति दे दी।'

लेकिन मन में एक सवाल उठता है। अगर उन मजदूर परिवार के बड़े नहीं मानते, तो क्या होता? 'होता क्या...सरपंच के पास जाते। सख्ती से पेश आते। किताबें हैं। स्कूल है, तो पढ़ने के लिए हां करने में क्या मुसीबत?' जवाब इला देती है। रेडियो उद्घोषक की तरह इला को रफ्तार में बोलते देख विलेज वॉलंटियर दर्शना बेन संकोच के साथ कहती है, 'जिद्दी हैं ये बच्चियां। शायद इन्हीं बच्चियों की जिद का नतीजा है कि गांव में समय पर पानी आता है। स्ट्रीट लाइट खराब नहीं होती। स्कूल के रास्ते की ढह गई पुलिया फिर से बन गई है। बच्चों और मां के लिए चलनेवाला टीकाकरण अभियान समय पर पूरा होता है। कचरा ढोने वाला ट्रैक्टर कभी खराब नहीं होता। कम उम्र में बेटी की शादी करने के जुगाड़ में लगे पिता भी सहमे से नजर आते हैं। और सबसे बड़ी बात यह कि सरपंच वी.सी.परमार भी वडोदरा के बदले गांव में घूमते नजर आ आते हैं-'कौन आफत मोल ले!'

ऐसी 'आफत' लसुंधरा गांव में भी आई है। वडोदरा के सांवली ब्लॉक के लसुंधरा गांव का किशोरी ग्रुप बाल मजदूरी और बाल विवाह के खिलाफ न सिर्फ बोलने लगा है, बल्कि रोकने भी लगा है। ट्रक ड्राइवरों और कपास मजदूरों से बसे इस गांव में अब घर की कमान बेटियों के हाथ में है। पिता का खाना, मां की दवाई, घर की सफाई, गलियों में रोशनी, समय पर स्कूल और समय पर खेलकूद...घर बदला, तो दशकों से यहां रहनेवाले लोगों को गांव भी नया लगने लगा है। आगे की पढ़ाई के लिए जो रास्ता सांवली तक जाता है, वहां सड़क तो है, साधन नहीं। कोई बस नहीं जाती। सरकारी अधिकारियों को तो समस्या की सुध ही नहीं। ऐसे में नीता, आशा, मीणा, आयशा, हेतुल और प्रियंका जैसी बच्चियां सुपर स्टार सलमान खान को एक चिट्ठी भेजना चाहती हैं- 'भलाई के बहुत काम करते हो। लसुंधरा की बेटियों को कॉलेज तक जाने के लिए कोई साधन भेज दो।' अब सलमान इन बच्चियों की मनुहार को कितना तवज्जो देते हैं, ये तो वही जानें, लेकिन तय है कि ये बच्चियां जिस तरह जुटी हैं, उसके बाद तो रास्ते खुद चलते हुए आते हैं, बस और लॉरी की क्या बिसात!

हौसलों की दास्तान 5
अमर उजाला यूनिसेफ का अभियान
अमर उजाला
unicef
unite for children

गांव के कई घर ऐसे थे, जहां बेटी का मतलब था कि घर के काम करो, खेतों में काम करो, बिल्डिंग में काम करो, लेकिन लड़कियों ने अपनी पढ़ाई के साथ दूसरों की शिक्षा का भी बीड़ा उठा लिया।

संजय देव

भायली गांव के समर्पण माहिति केंद्र में गांव की समस्याओं पर बातचीत करती गांव की बच्चियां।

उनके सपनों को भी लगे पंख

कृष्णागिरि से लौटकर
सुदीप ठाकुर

तकरीबन एक दशक पहले डोपिंग का आरोप लगने पर एथलीट सुनीता रानी से 2002 के बुसान में हुए एशियाड में उसे मिले स्वर्ण और कांस्य पदक छीन लिए गए थे। हालांकि बाद में उस पर लगे आरोप गलत साबित हुए और उसे पदक भी लौटा दिए गए। उस दौर में जो बात खुलकर सामने नहीं आ सकी थी, वह यह कि वह मासिक धर्म से पीड़ित थी और उसने कुछ दवाएं ली थीं। वास्तव में किसी भी लड़की के जीवन का यह ऐसा पक्ष है, जिस पर आज भी खुलकर बात नहीं की जाती। इससे जुड़ी वर्जनाओं और रूढ़ियों के कारण ग्रामीण इलाकों में तो लड़कियों की पढ़ाई तक बीच में छूट जाती है। मगर चेन्नई से दक्षिण-पश्चिम की तरफ साढ़े तीन सौ किमी दूर पिछड़े कृष्णागिरि जिले के एमसीपल्ली गांव के एक सरकारी स्कूल में आकर यह धारणा टूट जाती है, जहां सैनेटरी नेपकिन से लेकर शौचालय में गंदे कपड़े बदलने तक की विशेष व्यवस्था की गई है। यही नहीं, शौचालय के साथ ही एक इंसिनरेटर (भट्टी) लगा हुआ है, जिसमें गंदे पैड और अन्य गंदी सामग्री को नष्ट कर दिया जाता है। स्कूल की विज्ञान शिक्षिका के सेल्वारानी कहती हैं, 'इससे लड़कियों में विश्वास जागा है और वे अब मासिक धर्म को 'अभिशाप' नहीं मानतीं।'

देश के दूसरे हिस्सों की तरह दक्षिण भारत में भी सांस्कृतिक रूप से मासिक धर्म को गंदी चीज समझा जाता है। एमसीपल्ली स्कूल के प्रधान अध्यापक जे सुंदरदास बताते हैं कि कुछ वर्ष पहले तक तो आठवीं और नौवीं कक्षा की दो तिहाई लड़कियां मासिक धर्म के समय स्कूल ही नहीं आती थीं और फिर धीरे-धीरे उनमें से अनेक लड़कियों की पढ़ाई छूट जाती थी। तमिलनाडु में लड़कियों के ड्रॉप आउट होने की यह एक बड़ी वजह रही है।

मगर अब स्थिति बेहतर हुई है, क्योंकि स्कूल के भीतर ही मासिक धर्म से पीड़ित लड़कियों के लिए विशेष व्यवस्था की गई है। सर्वशिक्षा अभियान तमिलनाडु और यूनिसेफ ने मिलकर 2009 में कृष्णागिरि के आठ हाई स्कूलों में मासिक धर्म से जुड़ी सफाई और स्वास्थ्य संबंधी जागरूकता अभियान शुरू किया। एमसीपल्ली गर्ल्स हाई स्कूल भी उन्हीं में से एक है। कृष्णागिरि जिला मुख्यालय से चालीस किमी दूर एमसीपल्ली गांव का यह स्कूल उस धारणा के खिलाफ लड़ाई लड़ते दिख रहा है, जिससे देश की 35 करोड़ से ज्यादा महिलाएं जूझ रही हैं। सेल्वारानी बताती हैं कि शुरुआत में यह मुश्किल आई कि लड़कियों को कैसे सैनेटरी नेपकिन के बारे में बताया जाए, क्योंकि उनकी माताएं इसके लिए तैयार नहीं थीं। इसके लिए कोयंबटूर की एक कंपनी की मदद ली गई, जिसने खास तरह के सैनेटरी नेपकिन और वैंडिंग मशीन तैयार की हैं। इस मशीन में लड़कियां एक या दो रुपये के सिक्के डाल देती हैं और उसमें से नेपकिन बाहर निकल आता है।

वास्तव में देश में सैनेटरी नेपकिन इस्तेमाल करने का चलन ही एकदम नया है। बाजार से जुड़ी एसी नीलसन के ताजा सर्वेक्षण पर नजर डालें, तो आज भी देश की महज 12 फीसदी महिलाएं ही मासिक धर्म के समय सैनेटरी नेपकिन का इस्तेमाल करती हैं, जबकि इंडोनेशिया जैसे देश में भी 85 फीसदी महिलाएं सैनेटरी नेपकिन इस्तेमाल करती हैं और चीन में 64 फीसदी। देश की बाकी की 88 फीसदी महिलाएं पुराने कपड़ों का ही इस्तेमाल करती हैं, जिनसे बीमारियां और गंदगी फैलने की आशंका होती है। हालांकि मुक्त बाजार व्यवस्था में लड़कियों को 'आजादी' का सपना दिखाने वाले सैनेटरी नेपकिन के टीवी में आने वाले विज्ञापनों ने इस कारोबार को बढ़ाने में खासा मदद की है।

जे सुंदरदास बताते हैं कि मामला सिर्फ सैनेटरी नेपकिन की व्यवस्था या साफ-सफाई तक ही सीमित नहीं है। उन खास दिनों में लड़कियों को सेहत का भी खास ध्यान रखना होता है। स्कूल की शिक्षिकाओं और कुछ लड़कियों के ही कुछ समूह बनाए गए हैं, जो अलग-अलग कक्षाओं के हिसाब से लड़कियों के मासिक चक्र का रिकॉर्ड रखते हैं। लिहाजा यदि किसी लड़की के चक्र में अनियमितता पाई जाती है या फिर किसी अन्य तरह की स्वास्थ्य संबंधी दिक्कत आती है, तो उसे डॉक्टर को दिखाया जाता है।

इस परियोजना से जुड़े वाई के बाबू बताते हैं कि मुख्यमंत्री जे जयललिता ने नवंबर 2011 में प्रदेश की 10 से 19 वर्ष की सभी लड़कियों, नव प्रसूताओं और महिला कैदियों को मुफ्त सैनेटरी नेपकिन दिए जाने की योजना घोषित की थी, पर इस पर अभी पूरी तरह अमल नहीं हो पाया है। मगर हर अच्छी शुरुआत जरूरी नहीं कि सरकारी पहल से ही हो, इसके लिए एमसीपल्ली जैसे छोटे गांव से भी की जा सकती है, जहां कि लड़कियां अब सचमुच 'आजादी' महसूस कर रही हैं।

हौसलों की दास्तान 4
अमर उजाला यूनिसेफ का अभियान
अमर उजाला
unicef
unite for children

तमिलनाडु में भी मासिक धर्म को लेकर कई वर्जनाएं हैं। लेकिन एमसीपल्ली गांव के सरकारी स्कूल में इन खास दिनों के लिए की गई विशेष व्यवस्था से लड़कियों में आत्मविश्वास बढ़ा है।

अमित गुप्ता

वैंडिंग मशीन से नैपकिन निकालती एक छात्रा।

पूछ रही हैं बेटियां, हल्दी की इतनी जल्दी क्यों!

वडोदरा से लौटकर
देव प्रकाश चौधरी

इस देश में हर बीमार आदमी अपने लड़के को पढ़ा-लिखाकर डॉक्टर बनाना चाहता है। वडोदरा के गांवों में भी बार-बार बीमार पड़ने वाले लोगों की संख्या कम नहीं है, पर अब सोच बदल रही है। वे बेटों को नहीं, बेटियों को डॉक्टर बनाना चाहते हैं। शायद इसकी वजह यह भी हो कि बेटियां सिर्फ अपनी ही नहीं, पूरे घर की सेहत को लेकर ज्यादा फिक्रमंद हो गई हैं। घर में जो भी पके, वह पौष्टिक हो, साफ-सफाई हो, मां को आयरन की गोली मिले, मच्छरों से सब बचें और घर के साथ लगी हुई थोड़ी-सी भी जमीन है, तो सब्जी उगे, जैसी किताबी बातें अगर सातवीं और आठवीं में पढ़ने वाली बच्चियों के मन में उग आई हों, तो यह स्वीकार करने में हिचक नहीं होती कि चीजें बदल रही हैं। अभाव और भटकाव के तमाम दंश झेलने के बाद भी उन बच्चियों की मुस्कान एक नई कहानी कह रही है। वडोदरा के गांवों में घुमते हुए यूनिसेफ की गुजरात यूनिट के हेल्थ स्पेशलिस्ट डॉ नारायण गांवकर ने कहा, गलियों की साफ-सफाई से गांव की सेहत का पता चलता है और बच्चों की मुस्कान से उनकी सेहत का। उनकी बात में तब दम नजर आया, जब वडोदरा से सटे मुजपुरा के पब्लिक हेल्थ सेंटर में कुछ लड़कियों से मुलाकात हुई।

दसवीं पास निशा बेन के छोटी-सी नौकरी करने वाले पिता उसे डॉक्टर बनाना चाहते थे। घर के हालात इस कदर बदले कि न चाहते हुए भी कम उम्र में शादी करनी पड़ी। मगर अब वह सतर्क हो गई है और दूसरे को भी सलाह देने से नहीं चूकती, 'कम उम्र में शादी पढ़ाई रोक देती है और अगर शादी हो ही गई, तो मां बनने के लिए इंतजार करना चाहिए, तब तक, जब तक कि मानसिक और शारीरिक रूप से तैयार न हो जाएं।' हेल्थ सेंटर और लोगों के बीच की एक मजबूत कड़ी हैं आशा वर्कर। मीना बेन चार साल से मुजपुरा में आशा वर्कर है। यहां आने वाली हर एक मां के लिए उम्मीद बांटने वाली मीना 'सलामत सुवावड' यानी सेफ डिलीवरी के लिए महिलाओं को सचेत करती हैं। खान-पान और दवाई के लेखा-जोखा के लिए सबको ममता तरुणी फार्म भरना पड़ता है, जिसमें वजन, लंबाई, उम्र के साथ-साथ दवाओं और सेहतमंद भोजन की लिस्ट होती है। मीना को अपने काम से संतोष है, लेकिन उससे ज्यादा खुशी सेंटर की मेडिकल ऑफिसर डॉक्टर मनीषा को है, 'इस तरह के अभियान का एक बड़ा असर यह हुआ है कि लोगों का अस्पताल और अस्पताल के डॉक्टरों पर भरोसा हुआ है।' यूनिसेफ से जुड़े डॉक्टर अल्पेश बताते हैं, 'पहले गांव का हर एक छोटा-बड़ा आदमी निजी डॉक्टर के पास जाना चाहता था, लेकिन अब सब सरकारी अस्पताल में आते हैं।' डॉ गांवकर कहते हैं कि यहां कई ऐसे अस्पताल हैं, जहां स्टाफ की कमी है, इसलिए हमें निजी डॉक्टरों की भी मदद लेनी पड़ती है। अब हम सादी के पब्लिक हेल्थ सेंटर में थे, जहां एडोलसेंट गर्ल्स की एक टोली साप्ताहिक परामर्श के लिए आई थी। मेडिकल ऑफिसर डॉ. हेतल वसाव और डॉ. प्रीतेश सोलंकी के साथ सेंटर की आशा वर्कर उन्हें खान-पान संबंधी हिदायत दे रही थीं। उनके सहज सवालों का जवाब सार्वजनिक ढंग से दिया जा रहा था। हालांकि अगर कोई बच्ची सबके सामने सवाल पूछने में असहज महसूस कर रही हो, तो उसके लिए कोने में एक प्रश्न मंजूषा भी रखी हुई थी। जिसमें बिना नाम और पते के सवाल डाल देने से आशा वर्कर या डॉक्टर जवाब दे देते हैं और किसी को पता भी नहीं चलता कि सवाल किसका था।

इस सेंटर में मंगलवार को स्कूली बच्चों को मेडिकल चेकअप और परामर्श के लिए बुलाया जाता है। साथ में टीचर आते हैं। यहीं के बंधु समाज हाईस्कूल में पढ़ने वाली बंसुरी भट्ट एक पोस्टर दिखाती है, जिस पर लिखा है, 'हल्दी की जल्दी क्यों'? फिर मुसकराते हुए कहती है- 'आसपास की जो लड़कियां पढ़ने नहीं आतीं, उन्हें बताती हूं कि बीस वर्ष से पहले शादी करने से क्या-क्या नुकसान हैं।' बंसुरी डॉक्टर बनना चाहती है। सातवीं की पूर्वा, आठवीं क्लास की तेजल और दसवीं की दक्षा भी डॉक्टर बनेंगी। कपास की हरियाली की तरह वडोदरा के गांवों में ऐसे सपने अनगिनत मां-बाप के दिलों में लहरा रहे हैं, लेकिन उन्हें अपनी हद भी पता है। घर का खर्च और पढ़ाई के साधन के बीच इतनी बड़ी खाई है कि उन्हें पाटने के लिए शिक्षा और स्वास्थ्य के अलावा किसी बड़े रोजगार अभियान की जरूरत है। खुद की जमीन नहीं। दूसरों के खेतों में नियमित काम नहीं, काम है तो पैसे सीमित। ट्रक या बस की ड्राइवरी से घर का खर्च मुश्किल से चलता है। दूसरे शहरों में जाकर काम करें, तो घर को कौन देखे?

तभी मेहुड़ा गांव की निशा बेन के पिता शरण भाई कहते हैं, 'सोच-समझकर उम्मीद पालनी चाहिए।'

हौसलों की दास्तान 1
अमर उजाला यूनिसेफ का अभियान
अमर उजाला
unicef
unite for children

पूरे घर की सेहत को लेकर फिक्रमंद हो रही ये लड़कियां डॉक्टर बनना चाहती हैं। अभाव और भटकाव के तमाम दंश झेलने के बाद भी इन बच्चियों की मुस्कान एक नई कहानी कह रही है।

फोटोः अमर उजाला

इन लड़कियों की सोच बदल रही है।

उनकी पहचान और हमारे सरोकार

समाज

शोभा डे

आधार कार्ड में पुरुष और स्त्री के अलावा एक और लैंगिक पहचान का कॉलम रखना और इग्नू के आवेदनपत्रों में भी ऐसी व्यवस्था की घोषणा से यह पता चलता है कि हमारा समाज धीरे-धीरे ही सही, इस दिशा में सोच तो रहा है।

घंटों कतार में खड़े होने और निजता पर हमले के बाद अंततः मेरा काम निपट गया। जरा रुकिए, आप जैसा समझ रहे हैं, वैसा कुछ नहीं है। दरअसल मैं नंदन नीलेकणि के आधार कार्ड की बात कर रही हूं, जो एक तरह से आपको नंगा ही कर देता है। और वह भी, लोगों के सामने। ऐसे कार्ड भरने के दौरान जो प्रक्रियागत परेशानियां होती हैं, आधार कार्ड भरते हुए भले ही ऐसा कुछ नहीं था, लेकिन इसमें शासकीय हस्तक्षेप इतना ज्यादा है कि आश्चर्य होता है कि इन जानकारियों का सरकार करेगी क्या। मैं एक ऐसे भीड़ भरे हॉल में थी, जहां मेरी गोपनीयता की रक्षा के लिए कुछ भी न था। दो युवा फॉर्म भरने में लगे थे, जबकि हम फिंगर प्रिंटिंग और स्क्रीनिंग की प्रक्रियाओं से गुजर रहे थे। इन सबके अलावा एक चीज ने तो मुझे वाकई चकित कर दिया। फॉर्म में स्त्री और पुरुष के अलावा भी एक कॉलम था, जो बहुत गहराई से देखने पर ही पढ़ने में आता था। यह बहुत अच्छी पहल है। पुरुष और स्त्री के अलावा एक और श्रेणी के बारे में सोचना नीलेकणि के प्रगतिशील और सही नजरिये का ही परिचायक है। लगभग इसी समय यह सूचना आई कि इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय दूरस्थ शिक्षा योजना के अपने आवेदन पत्रों में 'पुरुष' और 'स्त्री' के अलावा 'अन्य' का एक कॉलम शुरू करेगा, जिसकी शुरुआत जुलाई से होगी।

आज अगर इस तरह की शुरुआत हो रही है, तो इसके लिए अभीना अहीर जैसी कार्यकर्ताओं का आभारी होना चाहिए, जो पिछले काफी समय से ट्रांसजेंडरों यानी पुरुष और स्त्री के अलावा तीसरी श्रेणी के लोगों की स्वतंत्र पहचान के लिए आंदोलन कर रही हैं। उनका दावा है कि देश की 40 प्रतिशत से अधिक ट्रांसजेंडर शिक्षित हैं। इग्नू यह कदम उन छात्रों के अनुरोध के बाद उठाने जा रहा है, जो अपने लिंग के बारे में बताने को अनिच्छुक थे। दरअसल इस तरह के छात्र एक स्तर के बाद स्कूल-कॉलेज छोड़ देते हैं, क्योंकि उनकी लैंगिकता को अकसर निशाना बनाया जाता है। ऐसे छात्र सामाजिक लांछन के पात्र बनते हैं। यह अपमान इतना बड़ा होता है कि शिक्षा खत्म करने के बाद नौकरी ढूंढते हुए ऐसे अनेक लोग मजबूरी में खुद को पुरुष बताते हैं। संतोष जोगलेकर जैसे कार्यकर्ता वर्षों से अभियान चला रहे हैं कि विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेने वाले जो छात्र अपनी लैंगिक पहचान नहीं बताना चाहते, उनके प्रति संवेदनशीलता दिखाई जाए।

दरअसल ऐसे लोगों के प्रति संवेदना जताना जितना आसान है, व्यावहारिक तौर पर उनके साथ होना उतना ही कठिन भी है। क्या मैं ऐसे किसी व्यक्ति को नौकरी दे सकती हूं, जो पुरुष या स्त्री न होकर कुछ और हो? अगर मेरे बच्चों का कोई दोस्त मुझसे कहे कि मैं ट्रांसजेंडर हूं, तो मेरी प्रतिक्रिया क्या होगी? खुद को पुरुष और स्त्री से अलग बताने वाले के साथ एक कमरे में रहने का साहस कितने लोग कर पाएंगे? ये सब व्यावहारिक मुद्दे हैं, जो व्यावहारिक समाधान चाहते हैं। जिस तरह आज एक ही लिंग में शादियां हो रही हैं, उसी तरह थर्ड जेंडर के बारे में भी समाज को सहानुभूतिशील होना पड़ेगा।

ऐसे लोगों के बारे में देश में जो सूचनाएं उपलब्ध हैं, वे भी स्पष्ट और

पर्याप्त नहीं हैं। कोई किसी ट्रांसजेंडर को किस तरह पहचान सकता है? वे औपचारिक बातचीत में खुद को किस श्रेणी में रखते होंगे, श्रीमान, श्रीमती या कुछ और? जो लोग खुद को इस तीसरी श्रेणी में रखते हैं, उनके लिए यह दुनिया सचमुच बहुत मुश्किल है। मैंने कभी एक फिल्म प्रिसिला, क्वीन ऑफ देजर्ट देखी थी, जो लैंगिक पहचान के लिए लड़ती एक आंदोलनकारी की कहानी थी। उसके कई वर्षों बाद भी स्थिति नहीं बदली है। अनेक प्रश्न अब भी अनुत्तरित हैं, जैसे-जनसंख्या के हमारे सर्वेक्षण में किन्नर कहां हैं? इस तरह के लोग जिन बच्चों को गोद लेते हैं, उनका क्या होता है? बच्चे उन्हें क्या कहते हैं, मम्मी, पापा या कुछ और? मैं जान-बूझकर इस तरह के सवाल उठा रही हूं। अज्ञानता के कारण गलतियां करने से अच्छा है कि चीजों को उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझा जाए। पिछले दिनों मैंने द बेस्ट एक्सोटिक मेरीगोल्ड होटल फिल्म देखी, जो एक रिटायर्ड ब्रिटिश जज, जो कि गे है, और एक भारतीय के रिश्तों की कहानी है, जो एक रात साथ गुजारते हैं। दशकों बाद वह जज उस भारतीय को ढूंढने के लिए वापस जयपुर आता है और आश्चर्यजनक रूप से उसे ढूंढ भी लेता है। उस आदमी की पत्नी जज का स्वागत करते हुए कहती है, 'मैं जानती हूं कि आप कौन हैं।' उसकी आवाज में किसी तरह की घृणा नहीं है। वह अपने पति और उसके ब्रिटिश साथी के रिश्ते को स्वीकार कर लेती है। यह उस फिल्म का सबसे प्रभावी हिस्सा था। इस तरह की स्थिति हमारे समाज में कब आएगी!

रूढ़ियों की टूटती दीवारें

मुद्दा

सरोजिनी बिष्ट

फिल्म-प्रेमियों को सालों पहले आई बाबुल फिल्म की कहानी याद होगी जिसमें एक ससुर समाज की परवाह किए बिना सामाजिक परिवर्तन की राह में क्रांतिकारी कदम उठाते हुए अपनी विधवा बहू का पुनर्विवाह करवाता है और उसके फैसले से तमतमाए लोग भी अंततः उसके हौसले के आगे नतमस्तक हो जाते हैं। यह भले ही रूपहले पर्दे पर दर्शाया गया फिल्मी गल्प हो लेकिन अब वास्तविक जिंदगी में भी कहीं-कहीं सच होता दिखने लगा है। कुछ समय पहले यह सच हमें बिहार के भागलपुर और मध्यप्रदेश के भोपाल में देखने को मिला। भागलपुर के एक गांव में जहां विधवा रूपम पांडेय को अपने पिता समान ससुर की बदौलत जीवन की नई खुशियां मिली वहीं भोपाल के होशंगाबाद की विधवा सुषमा का पुनर्विवाह करवाते हुए उसकी सास ने उसे अपनी बेटी की तरह विदा किया। समाज की परवाह किए बिना रूपम और सुषमा के ससुराल वालों ने चुपचाप नहीं बल्कि धूमधाम से उनका विवाह रचाया। छह साल पहले अपने पति को खो चुकी रूपम की एक बेटी भी है और सुषमा के पति की मौत तीन साल पहले हो चुकी थी। स्वभाविक है परंपरा और रीति-रिवाजों के खिलाफ जाने के लिए उन्हे भी कुछ का विरोध झेलना पड़ा जिसका उन्होंने डटकर सामना किया। लेकिन इस पूरे प्रकरण में हमें सबसे पहले उन ससुरालीजनों को साधुवाद देना होगा जिन्होंने बहू को बेटी के रूप में स्वीकारते हुए उनका भविष्य संवारने की बीड़ा उठाया और उसे सम्मान से जीने का हौसला दिया। साथ ही वे युवक भी बधाई के पात्र हैं, जिन्होंने इन दोनों को हमसफर बनाने की हिम्मत दिखाई।

एक ओर जहां हमारे इर्द-गिर्द महिलाओं के खिलाफ खाप पंचायतों के फ़रमान और फतवों की बंदिशे स्वेच्छा से जीने की उनकी जीने की चाह को कुचल रहीं हैं, वहीं कुछ सकारात्मक घटनाएं बल भी देती हैं। निश्चित ही इन घटनाओं से उन सभी को सबक लेने की जरूरत है जो परंपरा, संस्कारों, रीति-रिवाजों की दुहाई देकर एक लड़की के जीवन को इनकी भेंट चढ़ा देने में ही अपने को सच्चा परंपरावादी और समाज का बड़ा रक्षक मानते हैं। यह भी एक बड़ा सच है कि हमारे इन संस्कारों, रीति रिवाजों की धुरी केवल महिला समाज के ही इर्द-गिर्द ज्यादा घूमती है। जब भी बात इनके निर्वहन की होती है तो उसके ही माथे इसका बोझ डाल दिया जाता है। हांलाकि इस बाबत तर्क कुछ यूं गढ़े जाते हैं कि पुरुषों की अपेक्षा एक महिला में ही परंपरा, रीति-रिवाजों को निभाने की क्षमता होती है तभी तो उसे महान माना गया है और देवी पद पर अधिष्ठित किया गया है लेकिन इन तर्कों को गढ़ने वालों से कोई यह पूछे कि आखिर नारी को पूज्य बनाने में क्या स्वयं उसकी इच्छा निहित है? हरगिज नहीं, क्योंकि वह जानती है कि इसका ही प्रलोभन देकर हमेशा उसके पैरों में बेड़ियां कस दी जाती हैं। हमारे पितृसत्तात्मक समाज की इस आधी आबादी का संघर्ष इन बेड़ियों और बंदिशों के बावजूद ज़ारी है।

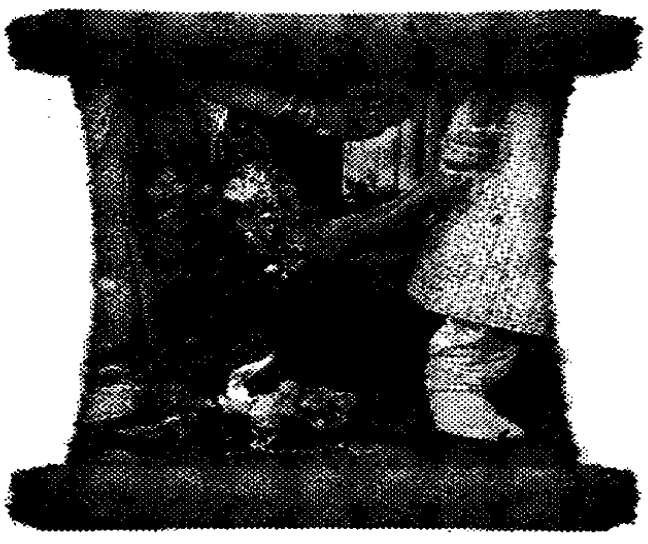

सवाल है कि नारी मुक्ति और नारी शक्ति जैसे अधिकार को काफी हद अपनी मुट्ठी में कर लेने के बावजूद क्या महिलाओं को समाज में सम्मानपूर्वक जीने का हक मिल पाया है? आज भी समाज में वैध्यव्य का जीवन जीने वाली महिलाओं को अपने ही घर के शुभ कार्यों की महत्वपूर्ण रस्मों से दूर रखा जाता है। एक विधवा को सजने-संवरने तक का अधिकार नहीं। विवाह की बात तो दूर, पर-पुरूष से मित्रता तक की उसे इजाजत नहीं और इसमें हैरानी नहीं कि यही सोच उस विधवा के भी मन में भी गहरे तक बैठ जाती है कि चूंकि वह विधवा है तो उसे जिंदगी की कुछ खुशियों से दूर ही रहना है।

दरअसल यह उस पर थोपी गई सोच है। हम जिस पितृसत्तात्मक समाज में रहते हैं, वहां सदैव ही शास्त्रों और धर्म की दुहाई देकर महिला के मानस को गुलाम बनाने की साजिशें रची गई हैं ताकि वे पुरुष के बराबर की हकदार न बन सकें। निश्चित ही इसमें पुरुष समाज का ही डर व्याप्त है। तभी तो सारी हदें केवल महिलाओं के लिए ही तय की गई और पुरुष चलाकी से बचते चले गए। समाज ने वैध्यव्य को इतना बड़ा अभिशाप बना दिया कि विधवाओं को समाज की मुख्यधारा से अलग करते हुए उनके लिए आश्रम खोल कहा जाता रहा कि यहां विधवाएं सुकून से प्रभु भक्ति कर शेष जिंदगी काट सकती हैं लेकिन यही तथाकथित समाज सुधारक विधवा के पुनर्विवाह को सिरे से नाकार देते हैं।

हालांकि उगलियों पर गिनी जाने वाली ये मिसालें ही स्वस्थ समाज की नींव का पत्थर मानी जाएंगी लेकिन फिलहाल इस सच पर पर्दा नहीं डाला जा सकता है कि आज भी हमारे समाज में ऐसी व्यवस्थाएं व्याप्त हैं जो अधिसंख्य महिलाओं को स्वच्छंद होकर अपनी तरह से जीने का हक नहीं देतीं। खाप पंचायतें, बाल विवाह, कन्या भ्रूण हत्या, देवदासी प्रथा, पर्दा प्रथा, डायन हत्या जैसी कुप्रथाओं को हम नाकार नहीं सकते जो लाख कोशिशों और कानूनों के बावजूद स्त्री समाज के लिए कड़ी चुनौतियां बनी हुई हैं।

न जाने रोज हम ऐसी कितनी घटनाओं से रू-ब-रू होते हैं जहां देखने को मिलता है कि यदि कोई लड़की अपनी इच्छा से प्रेम विवाह करना चाहती है तो कभी उसके परिवारवालों का दबाव तो कभी समाज का दबाव उसको आत्महत्या के लिए मजबूर कर देता है। अपने जीवन साथी के चयन में स्वंय के द्वारा निर्णय लेने के कारण उसे इतना बड़ा अपराधी मान लिया जाता है कि उसके लिए मौत तक का फरमान जारी कर दिया जाता है। आज भी हम देवदासी प्रथा को जड़ से नहीं उखाड़ पाये हैं। मासूम बच्चियों को जन्म लेने से पहले ही मार देने का सिलसिला निर्बाध जारी है, आज भी कई इलाकों में महिलाएं पर्दा या घूंघट की जकड़न से मुक्त नहीं हो पाई हैं। किसी बेसहारा विधवा की संपत्ति हड़पने का सबसे आसान उपाय है, उसे डायन बता कर मौत के घाट उतार दिया जाए। झारखंड, ओडिशा और छत्तीसगढ़ जैसे आदिवासी बहुल राज्यों में तो यह आम बात है लेकिन अफसोस की बात यह है कि डायन करार दी गई महिला की सहायता के लिए समाज आगे नहीं आता।

लेकिन इन सब के बीच यह भी एक सच है कि आज स्वंय महिलाएं अपने खिलाफ रचे गए दकियानूसी विचारों, सामंती सोच, बोझिल परंपराओं और बेमानी रीति-रिवाजों को सिरे से नाकार रही हैं, उनका डटकर मुकाबला कर रही हैं। रूपम और सुषमा का उदाहरण काफी हद तक समाज में आए उसी संघर्ष का प्रतिफल है।

नोट: देखी सुनी के विषय में अपने सुझाव, संस्था व कार्य में इसकी उपयोगिता और अपनी प्रतिक्रिया अवश्य भेजें। ताकि हम आपके लिये इसका प्रकाशन व वितरण ज़ारी रख सकें।

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें–
जागोरी, बी–114, शिवालीक, मालवीय नगर, नई दिल्ली–110017,
फ़ोनः 011–26691219, 26691220
email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org,www.jagori.org

EWDE के सहयोग से प्रकाशित